वर्ष–4 अंक–8 जुलाई–दिसम्बर, 2016

जेएनयू पॉलिटिक

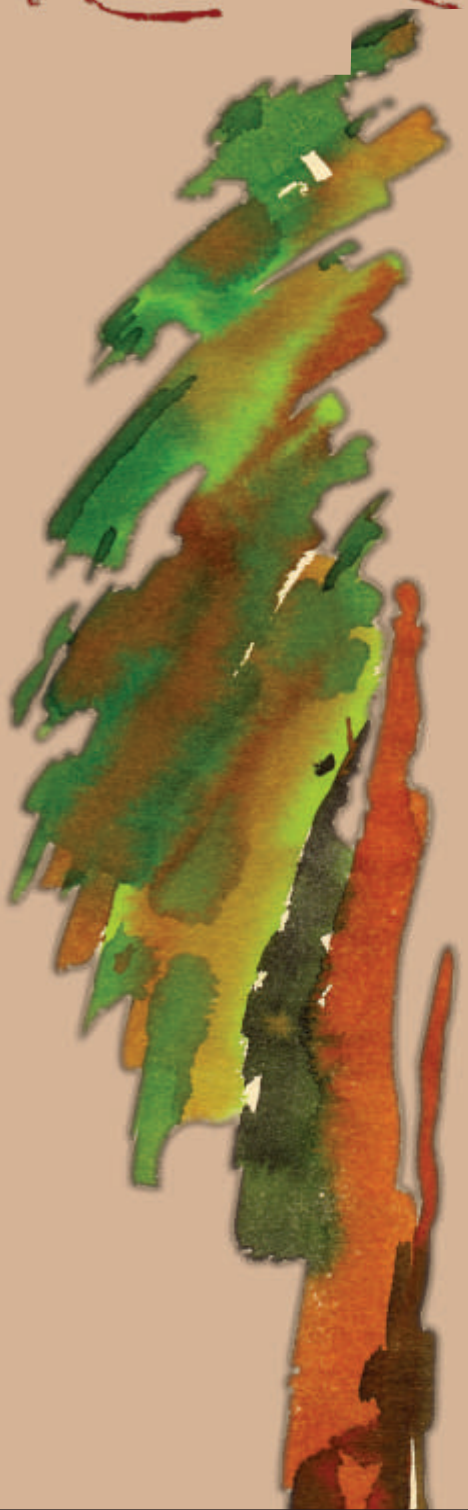

इस अंक के कुछ महत्त्वपूर्ण लेखक :
चिंतामणि महापात्रा, राजेंद्र डेंगले, सत्यपाल गौतम,
ए. के. रशीद, जॉस्टिन गार्डर, मुहम्मद असलम इस्लाही,
सच्चिदानन्द सिन्हा, रमाशंकर यादव 'विद्रोही',
सूर्य प्रकाश, मणीन्द्रनाथ ठाकुर, संजय कुमार पाण्डेय,
शतेन्द्र शर्मा, गंगा सहाय मीणा, दीपक भास्कर,
सत्येंद्र कुमार, जगदीश विद्यार्थी आदि

हमारे भव्य जंगलात उन वन्य जीवों एवं खूबसूरत परिंदों को उद्धृत करते हैं जो हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाते हैं। यदि ये भव्य वन्य जीवन हमें खेलने व देखने को ना मिले तो हमारा जीवन नीरस व रंगहीन हो जाएगा। अतः हमें बचे हुए वन्यजीवों एवं जंगलों का संरक्षण करना चाहिए।

- पं. जवाहरलाल नेहरू

प्लेन टाइगर

कॉमन लाइम

ब्यू टाइगर

ब्लू पैन्ज़ी

तितलियाँ मानव समाज के लिये कुदरत का एक नायाब तौहफ़ा हैं इनकी खूबसूरती को शब्दों में बयाँ करना बहुत मुश्किल है। बचपन में तितली का पीछा करना भला किसे अच्छा नहीं लगता होगा। विश्व की कुल आबादी की लगभग 60% तितलियाँ केवल भारत में ही पाई जाती हैं। जिनमें से 15-20% भारत की 'एंडेमिक' प्रजातियाँ हैं। राजधानी दिल्ली में भी करीब सौ प्रजातियों की तितलियाँ पाई जाती हैं व इनमें से 80% अकेले जेएनयू परिसर में मिलती हैं जोकि एक अद्भुत उपलब्धी है। इसका कारण परिसर का परिस्थितिकी अनुकूलन है, क्योंकि कीट-पतंगों के इन 'ब्रॉड एम्बैसेडर्स' को प्रजनन करने के लिए एक अति-विशिष्ट प्रकार का वातावरण चाहिये होता है जो जेएनयू में उपलब्ध है। प्रत्येक तितली एक विशेष प्रकार के पौधे पर ही अंडे देती है। यदि वह विशिष्ट पादप नहीं है जोकि किसी एक प्रजाति का होस्ट प्लांट कहलाता है, तो उस प्रजाति की तितली का जीवन चक्र पूरा नहीं होगा और यही कारण है कि हम आज परिसर में इन्हें देख पा रहे हैं। तितली एक शीत-रक्तिय कीट है जो सौर-ऊर्जा से ऊर्जा लेकर अपनी दैनिक क्रिया-कलाप करती है और इसीलिये मानसून व गर्मियों में इनकी तादाद बढ़ जाती है।

तितलियाँ मधुमक्खियों के बाद सबसे ज़्यादा परागण करती हैं जिस पर हम सभी लोग निर्भर करते हैं क्योंकि जो भी फल-व-सब्ज़ियाँ हम खाते हैं उनका लगभग 70-80% परागण तितलियाँ करती हैं।

अफसोस की बात यह है कि विगत दो दशकों में देश में इनकी आबादी तेजी से घटी है जिसका मुख्य कारण हैबीटेट लॉस व तस्करी माना जा रहा है। तितलियों को संरक्षण की दृष्टि से भी 'नॉन-टारगैट' प्रजाति माना जाता है जोकि एक बहुत बड़ी भूल है। मैं स्वयं विगत लगभग दो दशकों से राजधानी में इनका अध्ययन कर रहा हूँ और अपने अध्ययन के दौरान मैंने तितलियों की सात नई प्रजातियाँ दिल्ली में खोजी हैं जो पहले के शोध- पत्रों में नहीं दर्ज है व अपना शोध-पत्र एक अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में 2014 में प्रस्तुत किया। ध्यान योग्य बात ये है कि इन 07 प्रजातियों में से 05 प्रजातियाँ केवल जेएनयू परिसर में पाई गई हैं जोकि परिसर में तितलियों के लिये अनुकूल वातावरण होने की ओर इंगित करता है।

शरद ऋतु में तितलियों की बहुत सी प्रजातियाँ हिमालय की तराईयों से प्रजनन करने समतल व ऊष्ण जगहों पर माईग्रेट (पलायन) करती हैं जिनमें से कॉमन एमिग्रेंट, कैबैज व्हाईट आदि प्रमुख हैं। तितलियों का उल्लेख मुगलकालीन साहित्यों में भी मिलता है व इनका नामाकरण भी ब्रिटिश आर्मी के बहुत से पर्यावरणविदों ने किया है जिनमें कमाण्डर, सेलर, लैफ्टिनेंट नाम की तितलियाँ आदि शामिल हैं और आज भी भारत देश में हम इन्हीं नामाकरण प्रणाली का अनुसरण करते हैं। तितलियों के संरक्षण में पहल करते हुए डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ. ने मेरे शोध कार्य को सन् 2013 व 2016 में पोस्टर के तौर पे पेश किया है व जेएनयू ने भी सन् 2009 का वार्षिक कलैंडर भी तितलियों पर केंद्रित किया था जो एक विशेष कदम था।

अंत में सभी पाठकों से अनुरोध करूँगा कि तितलियों के संरक्षण में जेएनयू समुदाय के उठाए गए कदमों में सहयोग प्रदान करें व इस प्रथा को आगे बढ़ाने में सक्रिय योगदान दें।

- सूर्य प्रकाश

जेएनयू परिसर

वर्ष : 4, अंक : 8, जुलाई-दिसम्बर 2016

संपादक-मंडल

प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे
प्रो. सौमित्र मुखर्जी
डॉ. प्रमोद कुमार
प्रो. डी.के. लोबियाल
डॉ. मणीन्द्र नाथ ठाकुर
प्रो. देवशंकर नवीन
डॉ. अखलाक अहमद 'आहन'
डॉ. सन्तोष कुमार शुक्ल
श्रीमती पूनम एस. कुदेसिया
श्री सुमेर सिंह

प्रबंध संपादन सहयोग
डॉ. सूर्य प्रकाश
श्री शिवम शर्मा

संपादन सहयोग (छात्र)
मीनाक्षी, उज्जवल आलोक,
मुश्ताक अहमद, सुमित कुमार मौर्य,
नीलमणि भारती, प्रदीप कुमार

विशेष सहयोग
शिव प्रताप यादव

आवरण
प्रो. गोबिन्द प्रसाद

बाल कृति
जेएनयू नर्सरी स्कूल के सौजन्य से

फोटो
वकील अहमद

संपर्क
प्रबंध संपादक
जेएनयू परिसर
हिंदी एकक
301, प्रशासनिक भवन
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067
दूरभाष : + 91 11 26704023, 26704294
ई-मेल : hindiunit@mail.jnu.ac.in
संपादन/संचालन : अवैतनिक

जेएनयू की इस गृह पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के हैं। उनसे विश्वविद्यालय अथवा संपादक मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं। उसके लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

संपादकीय/2
बातचीत/3
चिन्तामणि महापात्र
अध्ययन कक्ष/5
राजेन्द्र डेंगले
लेखक की दुनिया/6
सत्यपाल गौतम, ए. के. रशीद
कथा/10
ईडन की बगिया : जास्टिन गार्डर
कुत्तों वाली गाड़ी : मुहम्मद असलम इस्लाही
जेएनयूपन/16
सच्चिदानन्द सिन्हा
पाठ्यक्रम संवाद : अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन/18
मनोज पंत, अजय पटनायक, एस.एन. मालाकार,
जी.वी. नायडु, अश्विनी महापात्र, संजय भारद्वाज,
संगीता थपलियाल, फूलबदन
संयोजन : संजय कुमार पाण्डेय, सुमित कुमार मौर्य
हिंदी दिवस पर विशेष/21
गंगासहाय मीणा, सातो युता
टिप्पणी/27
मणीन्द्रनाथ ठाकुर
काव्य सृजन/30
रमाशंकर यादव 'विद्रोही'
यादों के गलियारे से/32
जगदीश विद्यार्थी, रामबहादुर थापा
यात्रा वृतांत/34
शतेन्द्र शर्मा
परिदृश्य/36
हिंदी साहित्य और जेएनयू समाज
प्रस्तुति : कविता पासवान, संजय कुमार
लेख/39-53
सरफराज अहमद, बृजेश यादव, नुसरत जबीं सिद्दिकी,
करिश्मा सिंह, कामना सागर, सत्येंद्र कुमार
कविताएं/41, 43
शंभुनाथ सरकार, बलवन्त सिंह
स्वास्थ्य/54
नीरज कुमार श्रीवास्तव, अजय शास्त्री
गंगा ढाबा/55
दीपक भास्कर
गतिविधियां/57
हिंदी दिवस समारोह, हमारे समय का साहित्य, स्मृति व्याख्यान,
जेएनयू एल्यूमनी समारोह आदि।

संपादकीय

जेएनयू परिसर का यह नया अंक आपको देते हुए संपादक-मण्डल के सदस्यों की तरफ से मैं विश्वविद्यालय समुदाय के सभी सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करना चाहूँगा कि उनका सहयोग परिसर को लगातार मिलता रहा हैं। किसी भी सामूहिक गतिशीलता के लिए यह जरूरी भी होता है कि समुदाय की भागीदारी एक बड़े स्तर पर हो। कारण, ज्ञानार्जन के जो केंद्र होते हैं, उनकी कई परंपराएँ होती हैं। मानव समूह अनेक स्रोतों से उन्हें अर्जित करता रहता हैं। शब्द, शब्दों के संयोजन की परंपराएँ, उनके प्रसार के माध्यम आदि ऐसे छोटे-छोटे कारक होते हैं जो समयांतर में ज्ञान की प्राप्ति के बड़े माध्यम बनते हैं। ***जेएनयू परिसर*** के इस अंक में आपको ऐसी रचनाएँ मिलेंगी जो मानव समाज के ज्ञान के स्रोत में बहुत अधिक नहीं तो थोड़ी बहुत मदद जरूर करेंगी। उदाहरण के लिए, अध्ययन कक्ष में शामिल जर्मन भाषा के विद्वान लेखक प्रो. राजेंद्र डेंगले की टिप्पणी जहाँ जर्मन क्षेत्र में हो रहे चिंतन-मनन की नयी प्रक्रियाओं से आपका परिचय करायेंगी, वहाँ लेखक की दुनिया में शामिल दर्शनशास्त्र के विद्वान और कवि सत्यपाल गौतम एवं अफगानी कथाकार तथा आजकल जेएनयू के भाषा संस्थान में विजिटिंग प्रोफेसर ए.के. रशीद से बातचीत आपको शब्दों के सर्जनात्मक ज्ञान का हिस्सा बन जाने की चेतना के प्रति समझ पैदा करेगी। इसी प्रकार, इस अंक में काव्य सृजन में शामिल हिंदी के लोक कवि रमाशंकर यादव 'विद्रोही' की कविताएँ एवं उनपर लिखित राजनीति विज्ञानी डॉ. मणींद्रनाथ ठाकुर की टिप्पणी लेखकों की इसी नायाब दुनिया से आपकी मुठभेड़ करायेगी।

जेएनयू भारत सहित पूरी दुनिया में अंतर-विमर्शात्मक पठन-पाठन के कारण ज्ञान के एक विशिष्ट केंद्र के रूप में जाना जाता है। यह देश के कुछ उन चुनिंदा विश्वविद्यालयों में से एक है, जहाँ अध्ययन और अध्यापन करना गर्व का विषय माना जाता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए, इस बार का पाठ्यक्रम संवाद हमलोगों ने **अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन** पर केंद्रित किया है। विश्वविद्यालय के रेक्टर प्रो. चिंतामणि महापात्र की बातचीत एवं पाठ्यक्रम संवाद में शामिल अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान के प्राध्यापकों में प्रो. मनोज पंत, प्रो. अजय पटनायक, प्रो. एस.एन. मालाकार, प्रो. जी.वी. नायडु, प्रो. अश्विनी महापात्र, प्रो. संजय भारद्वाज, प्रो. संगीता थपलियाल और प्रो. फूलबदन के विचार यह समझने में मदद करते हैं कि दुनिया भर का तंत्र कैसे चल रहा है और उसकी राजनीति कैसी है तथा उसकी अकादमिक उपस्थिति शिक्षण संस्थानों में कैसी होनी चाहिए! हम संस्थान के प्रो. संजय कुमार पाण्डेय और शोधार्थी सुमित कुमार मौर्य के प्रति आभार प्रकट करते है कि उन्होंने परिसर के इस अंक के लिए अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन के पाठ्यक्रम में आ रहे परिवर्तनों पर एक वैचारिक संवाद का आयोजन किया ताकि पाठक समाज उनसे परिचित हो सकें। इसी प्रकार, इस अंक में शामिल डॉ. गंगा सहाय मीणा, जापानी छात्र सातो युता, जेएनयू के शोध-छात्रों में सरफराज अहमद, बृजेश यादव, नुसरत जबीं सिद्दकी, करिश्मा सिंह, कामना सागर एवं प्रलेखन अधिकारी डॉ. सत्येंद्र कुमार के लेख अवधारणात्मक और व्यवहारिक ज्ञान की कुछ बातों से हमारा परिचय कराते हैं। परिदृश्य के अंतर्गत कविता पासवान और संजय कुमार की प्रकाशित सामग्री को भी इस दृष्टि से पढ़ा जा सकता है।

इस अंक से परिसर में एक नया स्तंभ शुरू किया जा रहा है - **जेएनयूपन**। इसके अतिरिक्त, पिछले अंकों की तरह इस बार भी पुराने स्तंभों में कथा, यात्रा वृतांत, गंगा ढाबा, यादों के गलियारे से, स्वास्थ्य और बाल कृति के अंतर्गत प्रकाशित जेएनयू नर्सरी के बच्चों की पेंटिग्स इस अंक की वे सामग्रियाँ है जिन्हें पढ़कर और देखकर आपको लगेगा कि आखिर जेएनयू है क्या? इसकी ताकत क्या है ? क्यों लोग इसे पसंद करते हैं? इस अंक में शामिल डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा, डॉ. दीपक भास्कर, प्रो. मुहम्मद असलम इस्लाही, जगदीश विद्यार्थी, रामबहादुर थापा, अजय शास्त्री, नीरज कुमार श्रीवास्तव आदि की रचनाएँ पढ़कर आप जेएनयू की एक नयी दुनिया से परिचित होंगे।

अंत में, एक बात का उल्लेख कर मैं अपनी बात समाप्त करना चाहूँगा। आज से दो-तीन वर्ष पूर्व जेएनयू के पूर्व कुलपति प्रो. सुधीर कुमार सोपोरी ने भारतीय भाषा केंद्र द्वारा *हमारे समय का साहित्य* पर आयोजित एक राष्ट्रीय परिसंवाद में प्रसिद्ध अमेरिकी पत्रकार क्रिस हेग के समकालीन समय को लेकर दिये गये एक मार्मिक वक्तव्य का उल्लेख किया था *"हम एक ऐसे राष्ट्र में रह रहे हैं, जहाँ डॉक्टर द्वारा स्वास्थ्य नष्ट किया जा रहा है, वकील द्वारा न्याय को नष्ट किया जा रहा हैं, विश्वविद्यालय द्वारा ज्ञान को नष्ट किया जा रहा हैं, सरकार द्वारा स्वतंत्रता को सीमित किया जा रहा हैं, प्रेस सूचनाओं को नष्ट कर रहे हैं, धर्म द्वारा नैतिक मूल्यों का ह्रास किया जा रहा हैं, और हमारे बैंक अर्थव्यवस्था को नष्ट कर रहे हैं।"*

समकालीन समय पर यह एक ऐसी टिप्पणी है जिसे पढ़ और सुनकर सर्जनात्मक दुनिया का कोई भी व्यक्ति एकबार यह सोचने के लिए जरूर बाध्य हो जाएगा कि उसके होने का अर्थ क्या है? समकालीन समय में उसकी भूमिका क्या है? वह यूँ ही चुपचाप परिवर्तन की प्रक्रियाओं को देखते रहेगा या आगे बढ़कर उसका हिस्सा भी बनेगा? शायद आज का समय अब चुपचाप बैठने का नहीं रह गया है। आगे बढ़कर परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं का हिस्सा बनना भी जरूरी है।

मैं अपने संपादकीय सहयोगियों के प्रति भी आभार प्रकट करना चाहूँगा जो अंक की तैयारी में विचार-विमर्श से लेकर रचनाओं के संयोजन तक में हमारी लगातार मदद करते रहते हैं। शायद, कारवाँ ऐसे ही आगे बढ़ता है।

- देवेंद्र चौबे

बातचीत

आधुनिक समय में हिंदी भाषा भी धीरे-धीरे बदल रही है

प्रो. चिंतामणि महापात्र, जेएनयू के रेक्टर होने के साथ-साथ राजनीतिशास्त्र के चर्चित विद्वान् भी हैं। यहाँ प्रस्तुत है, उनसे डॉ. गणपत तेली और मीनाक्षी की बातचीत के महत्त्वपूर्ण अंश।

जेएनयू में हिंदी की कैसी स्थिति है? उसके प्रचार-प्रसार के विषय में आपके क्या विचार हैं?

हिंदी राष्ट्र भाषा है, इसमें कोई दो मत नहीं है मगर जेएनयू में देश के कोने-कोने से आए सभी छात्र-छात्राएँ हिन्दी बोलने-लिखने में माहिर नहीं होते। वे जेएनयू आने के बाद जिस ढंग से मिलते-जुलते हैं उससे वे एक दूसरे से धीरे-धीरे हिंदी सीख जाते हैं। दूसरी बात यह है कि जेएनयू प्रशासन की लगातार कोशिश द्विभाषिक सूचना प्रसारित करने की रहती है। मैं स्वयं हिंदी में हस्ताक्षर करता हूँ। हिंदी प्रसार के लिए अन्य विभाग खुले हुए हैं। वे अपना काम सुचारू रूप से कर रहे हैं। लेकिन हिंदी प्रसार के लिए जितना होना चाहिए शायद वो पर्याप्त नहीं है। हिंदी भाषा का प्रसार करने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। हिंदी में पठन-पाठन की प्रगति आप देख सकते हैं। हिंदी का जेएनयू में एम.ए. का पाठ्यक्रम है। स्नातक स्तर पर नहीं है। अगर हिंदी को बढ़ावा देना है तो स्नातक स्तर पर हिंदी में भी कोर्स होना चाहिए। अहिंदी भाषी क्षेत्रों से जो छात्र-छात्राएँ आते हैं उनके लिए हिंदी में वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ रखी जा सकती हैं। इससे उनकी हिंदी के प्रति रुचि बढ़ेगी। अध्यापकों के लिए भी प्रतियोगिताएँ हों। ऐसे छोटे-छोटे कदम उठाकर आगे बढ़ सकते हैं। यह स्वेच्छापूर्ण होना चाहिए। दबाव से कभी भी कोई सीख नहीं सकता है। आधुनिक समय में हिंदी भाषा भी धीरे-धीरे बदल रही है। कोई भी टी.वी. चैनल शुद्ध हिंदी बोलने वाले नहीं है। अगर आप शुद्ध हिंदी में जाएँगे तो हिंदी का भविष्य संस्कृत जैसा हो जाएगा। वो कठिन स्थिति होगी। भाषा को सरल होना चाहिए जिससे ज्यादा से ज्यादा व्यक्ति उसे व्यवहार में ला सके। दूसरा, केवल हिंदी को आगे बढ़ाने से काम नहीं चलेगा। सारी भारतीय भाषाओं को साथ मिलकर चलना पड़ेगा। क्योंकि भारतीय भाषाएँ उच्च स्तरीय भाषाएँ हैं। उनका अपना एक इतिहास है। सबका साथ, सबका विकास वाली कहावत भाषा पर भी लागू होती है।

जेएनयू और जेएनयू के बाहर समाज विज्ञान और अन्य अनुशासन के पाठ्यक्रम में आप क्या संभावनाएँ देखते हैं?

दुनिया जिस ढंग से बदल रही है, उसे आधुनिक समय में सूचना अतिभार (Information Overload) कहा जाता है। कोई भी सूचना अंग्रेजी, हिंदी आदि सभी भाषाओं में इंटरनेट पर मिल जाती है। इतनी सारी सूचनाओं से एक प्रकार की क्रांति आई है। भारत के अलग-अलग विश्वविद्यालयों में समाज विज्ञान के पाठ्यक्रम का ढांचा (Course-Structure) अलग-अलग है। समाज विज्ञान का पाठ्यक्रम सूचना अतिभार क्रांति के साथ मिलकर आगे नहीं बढ़ पर रहा है। इसके लिए अधिकाधिक कार्यशाला अंग्रेजी, हिंदी आदि सभी भाषाओं में होनी चाहिए। एक पाठ्यक्रम ढाँचे को आधुनिक बनाने के लिए कोशिश करनी चाहिए। जेएनयू सभी विश्वविद्यालयों से काफी आगे हैं। मगर यह उतना काफी नहीं है। उदाहरण के तौर पर, समाज विज्ञान में जाति-व्यवस्था के बारे में पढ़ते-पढ़ाते, लिखते और शोध करते हैं। मगर जाति-व्यवस्था जिस ढंग से बदल रही है (यहाँ सूचना क्रांति की बात नहीं की जा रही है। ये जमाना एसएमएस का है, सोशल मीडिया का है। केबल टेलीविजन का है) इन सारी चीजों का प्रभाव जाति के ऊपर आया है। इसका किसी ने अध्ययन नहीं किया। आधुनिक विकास की आड़ में उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, उत्तर-उपनिवेशवाद, साहित्य आदि सब कुछ उत्तर-उपनिवेशवाद के नाम पर चल रहा है; इसकी अहमियत कुछ नहीं है। उत्तर उपनिवेशवाद के बाद काफी सारे बदलाव आए हैं। भारत या जेएनयू में इसके बारे में कोई वाद-विवाद, संगोष्ठी, कार्यशाला नहीं हुई जो कि हो सकती है।

कम्प्यूटर का दौर आने के बाद शोध-प्रविधि बदल गई है। इसलिए शोध-प्रविधि को भी सही ढंग से लाने के लिए काफी काम करना पड़ेगा। इसके लिए एक ही उदाहरण है। शोध-प्रविधि समाज विज्ञान का महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है। सारा समाज विज्ञान बड़ी संख्या में केवल अर्थव्यवस्था को छोड़कर इसका अनुकरण करता है। जैसे, अंतर्राष्ट्रीय संबंध अध्ययन (International Relation Studies) एक उदाहरण के तौर पर है। अंतर्राष्ट्रीय संबंध में अपनी शोध-प्रविधि को लेकर अच्छे ढंग से कभी विकास हुआ? नहीं! इसलिए शोध प्रविधि पर शोध करना जरूरी हो गया है। अगर न करे तो वही पुराने ढांचे उपनिवेशवाद, उत्तर उपनिवेशवाद और पश्चिम पद्धति को ही पढ़ते रहेंगे। सिद्धांत उधर बनेंगे, पढ़ने वाले और इस डाइजेस्ट करने वाले इधर हैं। सैद्धांतिकी पर कोई वाद-विवाद नहीं होता! कोई सैद्धांतिकी बनाने की कोशिश नहीं है। इसको भी बदलना चाहिए। एडवर्ड सईद को उद्धृत करने वाले बहुत लोग हैं। एडवर्ड सईद ने जो रास्ता दिखाया था, उस रास्ते पर चलने वाले कितने हैं? इसका मतलब यह है कि हमें इसको आधुनिक और समान समय में भारतीयकरण करने के लिए कोशिश करनी चाहिए। क्योंकि आज तक सारे विमर्श के आधार एवं केंद्र पश्चिम और अभारतीय देश है। कोई अगर भारत के बारे में बात करता है तो उसको तुरंत रोक देते हैं। चीन में अभी काफी गंभीर शोध हो रहा है। वर्तमान संदर्भ में कहाँ आधुनिक विकास

अनुकूल या प्रासंगिक कितना हो सकता है? ऐसे शोध की कोशिशें जारी हैं। यहाँ भी होना चाहिए। हमेशा भारतीयों को गलत और पश्चिम को सही ठहराना गलत है। इसलिए आत्मिक खोज जरूरी है।

इंटरनेशनल रिलेशंस और एरिया रिसर्च की अभी क्या स्थिति है? इनमें कितनी और कैसी संभावनाएँ हैं?

इंटरनेशनल रिलेशंस और एरिया रिसर्च की समस्या एक तरह से अहम् (Ego) का मामला है जिसमें राजनीति विज्ञान इंटरनेशनल रिलेशंस अध्ययन को एक अलग विषय मानने के लिए तैयार नहीं है। इसलिए भारत के कोने-कोने में इंटरनेशनल रिलेशंस विषय एक अध्याय अथवा पेपर बन जाता है। पारंपरिक राजनीति विज्ञान को अगर कोई आधुनिक करना चाहे, तो इंटरनेशनल रिलेशंस पढ़ें। इसके लिए संप्रभुता का उदाहरण है। जब हम संप्रभुता की बात करते हैं वहीं जेन ऑस्टन या हॉब्से की थियोरी में चले जाते हैं। मगर जिस तरह राज्य की संप्रभुता सम्मिलित हुई (Partly because of globalization, Partly because of Challenge of the non-state actors to the state)। उससे आतंकवादी संगठनों और माफियाओं की शक्ति बढ़ गई है। उनका स्वशासन बढ़ गया है। वह राज्य संप्रभुता को चुनौती दे रहे हैं। अध्यापक संप्रभुता पढ़ाते हैं। ये पाठ्यक्रम में नहीं है। इंटरनेशनल रिलेशंस के परिप्रेक्ष्य में देखें तो इसे आधुनिक बनाया जा सकता है। अन्यथा बिना पढ़े वही पारंपरिक जड़ बनकर रहेंगे। इस कारण इंटरनेशनल रिलेशंस महत्त्वपूर्ण विषय है। इसे एक स्वतंत्र विषय के रूप में देखना चाहिए। राजनीति विज्ञान महत्त्वपूर्ण है। 5000 साल से चल रहा है लेकिन इंटरनेशनल रिलेशंस प्रासंगिक रूप से नवीन विषय (Young Subject) है, आधुनिक है। इंटरनेशनल रिलेशंस का धीरे-धीरे विकास हो रहा है; जैसे एक पर्याप्त विषय के रूप में, बशर्ते उसका बहुत अधिक भूमण्डलीकरण न हो। यह आवश्यक हो गया है कि इंटरनेशनल रिलेशंस के ऊपर सरकार, यूजीसी ध्यान दे। सारे स्कूल-कॉलेजों में एक अलग विषय के रूप में इंटरनेशनल रिलेशंस को आंशिक रूप से पढ़ाया जाए।

इंटरनेशनल रिलेशंस के साथ में एरिया स्टडी की संकल्पना भी है। इसमें दो चीज हैं। जब द्वितीय युद्ध खत्म हो गया था। उसके बाद इंटरनेशनल रिलेशंस अध्ययन फैलना शुरू हुआ। विश्व के बहुसंख्य क्षेत्र केवल उपनिवेशी थे। यही इंटरनेशनल रिलेशंस का मतलब होता था। पहले कुछ यूरोपियन देश और अमेरिका के बीच जो चलता रहता है। वही इंटरनेशनल रिलेशंस था। और उससे पहले अर्थात् साम्राज्यवाद से पहले, यह केवल राजाओं-महाराजाओं का खेल था। इंटरनेशनल रिलेशंस का विषय बहुत नया है। मगर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब बहुत सारे देश स्वतंत्र हुए, उसके बाद शीत युद्ध शुरू हुआ। शीतयुद्ध के समय में इंटरनेशनल रिलेशंस अध्ययन का महत्त्व बढ़ गया क्योंकि उपनिवेशी शासक, सिर्फ उपनिवेशी शासक न रह गये उनके बीच दो बड़ी शक्तियाँ आ गईं। उस पर अलग-अलग क्षेत्र का अध्ययन किया जाने लगा। अमेरिकी विश्वविद्यालयों में देखें तो कई सारे क्षेत्र जो पहले ब्रिटेन में काफी सही ढंग से पढ़ाये जाते थे, वे अमेरिका में शिफ्ट हो गया। किसी क्षेत्र के साथ संबंध रखने के लिए किसी देश को उस क्षेत्र का इतिहास, समाज, आर्थिक स्थिति आदि सभी को पढ़ना जरूरी है। मगर साथ-साथ इंटरनेशनल रिलेशंस की एक और शाखा है। उसे हम 'Functional Area' कहते हैं। उसमें सिर्फ एक एरिया पर नहीं पढ़ते जैसे उदाहरण के लिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, मानवाधिकार, वैश्विक राजनैतिक अर्थशास्त्र , बहुराष्ट्रीय निगम एक विषय या मुद्दा पढ़कर पूर्ण नहीं होगा। एक फंक्शनल एरिया होता है और एक एरिया स्टीज़ होता है दोनों का महत्त्व है। दोनों में से किसी को भी कम आँकना गलत होगा।

अंत में एक और सवाल। आप जेएनयू के पुराने छात्र रहे हैं तथा इस नाते एल्यूमनी एसोशिएसन की गतिविधियों में आपकी दिलचस्पी है। एल्यूमनी एसोशिएसन की गतिविधियों को आप कैसे देखते हैं? एल्यूमनी अतिथि गृह या विश्वविद्यालय में इस प्रकार का कोई केंद्र हो, जहाँ जेएनयू के पुराने छात्र अपने होने का अहसास करें, इसके बारे में आपके क्या विचार हैं?

जेएनयू का एल्यूमनी एसोशिएसन अलग-अलग गतिविधियों में काफी क्रियाशील है चाहे एल्यूमनी सम्मेलन हो या कोई व्याख्यान शृंखला। इनकी कोशिश जेएनयू के सभी एल्यूमनी को जोड़ने की रहती है। 'AAJ' की कोई सीमा नहीं है। जेएनयू के एल्यूमनी 'अंतर्राष्ट्रीय एल्यूमनी' है। दुनिया के कोने-कोने में है। इसका अब तक काम सराहनीय है। मगर इसको आगे बढ़ाना एसोशिएसन का काम है। इसमें हम सबको मदद करनी होगी। भागीदार बनना और बनाना होगा क्योंकि एल्यूमनी एक स्वैच्छिक एसोशिएसन है जहाँ जेएनयू के पूर्व छात्र अपना समय देते हैं। यह आशा करनी कि सभी एलयूमनी आकर भरपूर समय दें, बिलकुल संभव नहीं है। एल्यूमनी एसोशिएसन द्वारा देश के कोने-कोने से जोड़ने की कोशिशों में मेरा भरपूर सहयोग है।

एक अतिथि गृह के लिए तीन चीजें चाहिए। एक, भूमि जो आसानी से उपलब्ध नहीं होती। दूसरी, इमारत जिसके लिए काफी पैसा चाहिए। और तीसरा, देखरेख जिसमें हिंदुस्तानी लोग मात खा जाते हैं। गेस्ट हाउस एक ऐसी चीज है जिसमें सिर्फ इमारत की देखभाल ही नहीं, उसको सही ढंग से चलाने के लिए प्रतिबद्ध कर्मचारी वर्ग और उनकी तनख्वाह भी चाहिए। यह एक भव्य परियोजना है। इसके लिए समय लगेगा। इसके लिए सदा प्रयासरत रहना चाहिए। इस भव्य परियोजना के साथ लोगों को एसोशिएसन की तरफ आकर्षित करने के लिए एक कैलेंडर बनाना चाहिए। उस कैलेंडर में वार्षिक कार्यक्रम का ब्यौरा होना चाहिए जिसकी सूचना कैलेंडर के माध्यम से सबको समय से पूर्व चली जाए। इससे अलग-अलग समय में अलग-अलग कार्यक्रम में अलग-अलग एल्यूमनी आ सकते हैं। एक व्यक्ति अगर बार-बार नहीं आ सकता तो कोई अन्य समूह आएगा। सभी के सम्मान को बनाए रखना हमारा कर्तव्य है।

जर्मन भाषिक साहित्य का बदलता हुआ स्वरूप

राजेन्द्र डेंगले

प्रो. राजेन्द्र डेंगले, भाषा साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान में जर्मन भाषा के प्राध्यापक होने के साथ-साथ एक महत्त्वपूर्ण लेखक भी हैं। इस बार अध्ययन कक्ष में प्रस्तुत हैं, उनके विचार।

2014 के जून महीने की बात है। जर्मनी के सबसे जानेमाने साप्ताहिक '**Der Spiegel**' ने अपने 22वें अंक में फोलकर वाइडरमान के एक लेख को छापा, जिसका शीर्षक था : **Planet Deutschland** (जर्मनी-एक ग्रह)। वाइडरमान जर्मनी के मशहूर साहित्यिक विचारकों में से एक हैं। संक्षेप में कहा जाए तो उनका मानना यह है कि वे लेखक और लेखिकाएँ, जो जर्मन नहीं हैं; जिनका जन्म जर्मनी में नहीं हुआ और जिनके माता-पिता या वह ख़ुद जर्मनी के आश्रित हैं और जर्मन भाषा में साहित्य का निर्माण करते हैं, वे आज जर्मन भाषिक साहित्य की अस्मिता (वजूद) को बदल रहे हैं।

बोसनिया, बल्गेरिया, जोर्जिया, यूक्रेन, तुर्किस्तान, इराक तथा प्राग में जन्में इन लेखक-लेखिकाओं की मातृभाषा जर्मन नहीं है। लेकिन जर्मन इनके साहित्य की भाषा है।

'**Der Dpiegel**' के इस लेख को छापना हम जर्मन साहित्य के भारतीय अभ्यासकों के लिये, जो स्वयं एक बहुभाषिक संस्कृति में जन्मे और बड़े हुए हैं, बहुत कुछ कह जाता है। इस साहित्यिक प्रक्रिया का असर हमारे यहाँ विश्वविद्यालयों में पढ़ाने और पढ़ने जाने वाले जर्मन भाषिक साहित्य के पारंपरिक ढाँचे पर पड़ रहा है।

पिछले साल मुंबई विश्वविद्यालय में '**GIG**', इस अंतरसांस्कृतिक जर्मन अभ्यासकों की संस्था का सम्मेलन हुआ जिसकी प्रमुख अतिथि सुश्री योको तावादा थी। यह जापानी मूल की जर्मन लेखिका हैं। यह बात वाइडरमान के कथन को पुष्टि देती है।

अब्बास खिदर (अफगानिस्तान), इलिमा त्रोयानोव (सोफ़ीया), फेरीदून जाइमोगलू (तुर्किस्तान), कात्या पेत्रोस्काया (कीव) ये कुछ नाम ऐसे हैं जिनकी लेखनशैली, जिनकी भाषा तथा जीवन के प्रति देखने का तरीका इतने सृजनशील, संवेदनाशील और प्रभावशाली है कि वे मार्टिन बूबर के "मैं और तुम" तथा मिखाइल बाख़्तिन के संवादात्मक दार्शनिक विचार-लेखन को एक वर्तमान रूप देने में समर्थ हो जाते हैं।

आज के वैश्विक संदर्भ में 'सीमा' अथवा 'दहलीज' की बहुत चर्चा है जिसमें साहित्यकार एक सांस्कृतिक अनुवादक की भूमिका निभाता है। पॉल रिक्योर की नजर में साहित्यिक अनुवाद कोई एकतरफ़ा सांस्कृतिक प्रक्रिया नहीं है। इसी प्रकार, एक संस्कृति को केवल दूसरी संस्कृति तक पहुँचाना; यह अनुवाद का काम नहीं है; यह बात वाल्टर बेंजामिन ने भी कही है। रिक्योर मानते हैं कि साहित्यिक अनुवाद, संस्कृति को और समृद्ध बनाने की प्रक्रिया है जिसका स्वाभाविक अंग बदलाव है।

बेघर बुद्धिजीवी, प्रतिभाशाली लेखन की पहचान जर्मन भाषा, साहित्य और संस्कृति के अभ्यासक को आउसश्विटज् के बाद लिखे गये '**Exile**' साहित्य के रूप में हो चुकी है। आज हेर्टा म्युलर जैसी नामांकित लेखिका रोमानिया को छोड़कर जर्मनी वापस आ गयी हैं और उनकी नज़र से दिखाई देने वाला जर्मनी; कुछ और ही कहानी बताता है।

त्रोयानोव का मानना है कि, "हमें आज एक वैश्विक यूटोपिया (utopia) की जरूरत है, न कि यूरोपियन यूटोपिया की"। इस बदलते हुए जर्मन भाषिक साहित्य के बदलते हुए नक्शे का केन्द्रबिंदु; न जर्मनी है, न ही यूरोप। बल्कि, वैश्वीकरण के फलस्वरूप हर सीमा को पार करने वाले नये मनुष्य की अस्मिता को अभिव्यक्त करना, उसकी संवेदनाओं को, उसके सुख-दुख को अपनाते हुए सामाजिक तथा मानसिक बदलाव लाने की उम्मीद रखते हुए यह साहित्य, अपना नया स्वरूप खोज रहा है।

इस संदर्भ में जो अभ्यासक आज हमारे विश्वविद्यालयों में जर्मन भाषिक साहित्य का अध्ययन कर रहे हैं, उनके लिये पारंपरिक जर्मन साहित्य के स्वरूप के ढाँचे को न भूलते हुए इस साहित्य के बदलते हुए नक्शे को समझना जरूरी हो जाता है जो कोई आसान नहीं, बड़ा चुनौती भरा काम है।

रचनाएँ आमंत्रित

जेएनयू परिसर के आगामी अंकों के लिए रचनाएँ आमंत्रित हैं। कृपया अपने स्तरीय लेख, कहानी, कविता, समीक्षा, संस्मरण आदि सॉफ्ट व हार्ड कॉपी में अपनी फोटो सहित निम्नलिखित पते पर भिजवाएं : **प्रबंध संपादक, जेएनयू परिसर, हिंदी यूनिट, 301, प्रशासन भवन, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, फोन नं. 011-26704023, ईमेल** : hindiunit@mail.jnu.ac.in

दर्शन और साहित्य में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं है

प्रो. सत्यपाल गौतम, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर हैं। साहित्य सृजन में उनकी गहरी दिलचस्पी है। यहाँ प्रस्तुत है, उनसे नीलमणि भारती और मुश्ताक अहमद की बातचीत।

आपने साहित्य सृजन की शुरुआत कब से की और लेखन के आरंभिक दौर में क्या ऐसे कोई रचनाकार या रचना हैं जिसे पढ़कर आपको साहित्य के गहन अध्ययन हेतु प्रेरणा मिली हो?

सबसे पहले मैं अपने पहले अध्यापक का जिक्र करना चाहूँगा जिनका नाम है - जगतार। इन्होंने मुझे मेरे गाँव के विद्यालय में मुझे पहली कक्षा से तीसरी कक्षा तक पढ़ाया और गुरुमुखी लिपि का ज्ञान करवाया। बाद में इनका नाम पंजाबी भाषा के अच्छे कवियों में गिना गया और इन्हें पंजाबी कविता पर भारत की साहित्य अकादमी से राष्ट्रीय सम्मान और पुरस्कार भी मिला था। इसी क्रम में मैं बताना चाहूँगा कि साहित्यिक रुचि विकसित होने के पीछे मेरे पारिवारिक माहौल की अहम् भूमिका रही है। मेरे ननिहाल पक्ष में नाना, मामा सभी शिक्षक थे और साथ-ही-साथ वे लोग साहित्य में भी रुचि रखते थे। उनकी पंजाबी भाषा में रचनाएं भी प्रकाशित होती थी। इसी प्रकार मेरे दादा जी के परिवार के अधिकांश सदस्य वकालत तथा प्रशासनिक सेवा से जुड़े लोग थे जिनकी साहित्य के अध्ययन में रुचि थी। इस मामले में मेरा सौभाग्य था कि मुझे बचपन से ही अध्ययन-अध्यापन का माहौल मिला। इसी कारण मेरे अन्दर भी साहित्य के प्रति एक रुचि जागृत हुई। हालांकि मैंने अपनी पहली कविता 7वीं कक्षा में स्कूल की परीक्षा में लिखी और उसी दौरान कविता सम्बन्धी बातचीत के सिलसिले में मेरे पहले साहित्यिक मित्र सुरेन्द्रमोहन से मेरा परिचय हुआ। हमारे विद्यालय में यूं तो साहित्यिक रुचि रखने वाले अनेक लोग थे, परन्तु मैं सबसे अधिक मेधावी और प्रतिभाशाली सुरेन्द्र मोहन को मानता हूँ। जब वे बी.ए. में थे तब उन्होंने सैम्युल बेकेट की प्रसिद्ध कृति 'वेटिंग फार गोदो' का पंजाबी में अनुवाद करवाकर छपवाया था। इसी से उनकी साहित्यिक रुचि और प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है। मेरी साहित्यिक रुचि के विकास में हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक - सम्पादक रवीन्द्र कालिया का भी अप्रत्यक्ष योगदान रहा है। उनके पिता रघुनाथ सहाय कालिया मेरे दादाजी के मित्र थे और रवीन्द्र कालिया उस समय ***धर्मयुग*** नामक पत्रिका के सम्पादन विभाग में थे। हमारे घर पर भी ***धर्मयुग*** आती थी और मैंने अपने अध्ययन के आरम्भिक दौर में प्रेमचन्द, अज्ञेय आदि जिन रचनाकारों को पढ़ा उसका कारण यह था कि रवीन्द्र कालिया अपनी पुस्तकें हमारे विद्यालय को भेंट करके 'धर्मयुग' में कार्य हेतु गए थे। उनके द्वारा दी गई पुस्तकों में कहानियाँ, उपन्यास, कविता संग्रह आदि होते थे। इसी कारण मैं यह जरूर कहूँगा कि रवीन्द्र कालिया का मेरे साहित्यिक विकास में अप्रत्यक्ष और महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

अब यदि ऐसे किसी रचना की बात की जाए जिसने मुझे अपने आरंभिक दिनों में सर्वाधिक प्रभावित किया तो वह है - राजकमल चौधरी का उपन्यास 'नदी बहती थी'। उस समय घर के अध्ययन-अध्यापन माहौल के कारण मैंने शुरू में ही कामूँ के तीनों उपन्यास तथा और भी कई साहित्यिक कृतियाँ पढ़ दी थी। इसी के साथ ***ज्ञानोदय, सारिका, धर्मयुग*** आदि पत्रिकाओं को पढ़ने का सिलसिला शुरू हो चुका था। इसी क्रम में मेरा साहित्यिक रुझान बढ़ता गया।

साहित्य सृजन के दौरान आपको व्यक्तिगत समस्या अधिक प्रभावित करती है अथवा सामाजिक समस्या?

साहित्य सृजन में दोनों का प्रभाव रहता है। मैंने हायर सेकेंडरी विज्ञान विषय से किया है। इसके बाद मुझे घर वालों ने प्री-इंजीनियरिंग करने का निर्देश दिया परन्तु मेरी रुचि फिलोसोफी विषय को पढ़ने में थी इसलिए मैंने घर वालों के आदेश को मानने को अस्वीकार कर दिया। अब बी.ए. में प्रवेश लेने के लिए मेरे पास पैसे नहीं थे। अतः मैंने ट्यूशन पढ़ाना, प्रूफ रीडिंग करना शुरू कर दिया। इसी के साथ मुझे मालूम हुआ कि हमारे शहर में भी कॉफी-हाउस है तो मैं वहीं जाकर बैठने और पढ़ने लगा। वहाँ मेरे कई दोस्त भी बन गये। जिनमें एक थे - कपिल मल्होत्रा। इनसे जुड़ी एक वारदात का जिक्र करना चाहूँगा कि कपिल ने उस समय दो कहानियाँ "वीपिंग हैमिंग्वे' तथा 'कोई खेद नहीं' लिखी थीं जो उस समय अत्यंत प्रसिद्ध हुई थीं। इनकी कहानियों की आलोचना करते हुए इन्द्रनाथ मदान ने कहा था कि "अगर तुम तीसरी कहानी भी इतनी ही अच्छी लिखोगे तो तुम हिन्दी साहित्य के दूसरे चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' बन जाओगे।" यहां काफी हाउस में कपिल के साथ ही साथ मेरे और भी अनेक मित्र बने जिनमें रमेश कुन्तल मेघ, सन्त सिंह सेखो, पाश, अमरजीत चन्दन, बलवन्त आदि थे। आरम्भ में जब मैंने कविता लिखनी शुरू की तब मेरे कई कवि दोस्तों ने मुझसे कहा कि तुम बहुत ही अमूर्त और बौद्धिक कविता लिखते हो जो अच्छी कविता के लिए अनुपयुक्त है इसलिए फिलोसोफी ही पढ़ो और कविता को रहने दो। इस कारण मैंने कविता करनी छोड़ दी। लेकिन जब मैं बरेली से लौटकर जेएनयू आया और यहां कैंपस से बाहर जब एक कार्यक्रम की अध्यक्षता करने का अवसर मिला; तब वहाँ मैंने उस संगोष्ठी में हुई चर्चा पर टिप्पणी करते हुए यह बात रखी कि बौद्धिक कविता भी कविता होती है। यह 2013 की बात है। इससे पहले जब मैंने अपने पंजाबी कवि दोस्तों से 1969 में कहा था कि मुक्तिबोध को पढ़ो वे बौद्धिक कविता लिखते हैं, तो उनका जवाब

था कि कविता में अमूर्तता नहीं होती, कविता में भावात्मक बिम्ब, लय, गीतात्मकता होनी आवश्यक है। लेकिन 2013 से मैंने फिर से कविता लिखनी शुरू कर दी और अब लगातार लिख रहा हूँ।

एक बार जेएनयू में एक कार्यक्रम के दौरान वरयाम जी से मुझे अपने कविता लेखन के लिए प्रशंसा मिली थी। वह अपने एक परिचित से मेरा परिचय दे रहे थे तो उन्होंने कहा की ये तनख्वाह तो फिलोसोफी से लेते हैं लेकिन हैं हमारे साहित्य के आदमी। जालंधर में नामवर जी से भी मेरा परिचय स्कूल के अंतिम वर्षों में हुआ था। रमेश कुन्तल मेघ उन्हें बुलाया करते थे। उनकी टिप्पणी, कि "सागर, अब सूखा सरोवर भी नहीं है" के कारण ही मैंने सागर विश्वविद्यालय से फिलोसोफी में एम.ए. (MA) करने का विचार छोड़ दिया। परिणाम स्वरूप पंजाब विश्वविद्यालय से ही मैंने अपना अध्ययन आगे बढ़ाया।

आपके अनुसार साहित्य और विचारधारा का परस्पर सम्बन्ध कैसा होना चाहिए?

कोई भी साहित्यकार, जो कि रचनात्मक कार्य कर रहा है, किसी भी विचारधारा से प्रतिबद्ध हो सकता है अथवा सिर्फ प्रभावित भी हो सकता है, अथवा सिर्फ रुचि ही रख सकता है ये सभी अलग-अलग किस्म की स्थितियों में अलग-अलग दृष्टिकोण रच सकते हैं। अलग-अलग रचनाकारों की रचना-यात्रा की भी अपनी अलग-अलग विशेषताएं होती हैं। विचारधारा, साहित्य और दर्शन के पारस्परिक सम्बन्धों में विविधता है, बावजूद इन विविधताओं के मेरा मानना है कि हमारी रचनाओं, विचारधारा और जीवनकर्म में विसंगतियां नहीं होनी चाहिए। इनमें परस्पर सामंजस्य होना चाहिए।

क्या साहित्यकार भी दार्शनिक होते हैं? इस सन्दर्भ में आपकी क्या मान्यताएं हैं?

हां, साहित्य के माध्यम से दर्शन को व्यक्त किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में मेरे एक प्रिय दार्शनिक हैं - लुडविग विटगेन्शटाईम। इनका मानना है कि सबसे बढ़िया दर्शन तब होता है, जब वह कविता बन जाता है। जास्टिन गार्डर नार्वे में फिलोसोफी पढ़ाते थे। जूनियर कॉलेज में जिन बच्चों को वह फिलोसोफी पढ़ाते थे, उन बच्चों का कहना था कि यह विषय कठिन है, जटिल है, अमूर्त है, इसे पढ़ने में हमारा मन नहीं लगता, हमें रहस्यात्मक उपन्यास पढ़ना अच्छा लगता है। इसके बाद जास्टिन गार्डर ने निश्चय किया कि मैं दर्शनशास्त्र के इतिहास पर एक उपन्यास लिखूंगा जो 'mystry novel' होगा। इनके इस उपन्यास का नाम है - 'Sophie's World' यह उपन्यास नार्वे में इतना प्रसिद्ध हुआ कि इसकी लगभग सत्तर हजार प्रतियां बिक गईं। इस उपन्यास का कई भाषाओं में अनुवाद किया गया है। मैंने भी हिन्दी भाषा में इसका अनुवाद किया है **'सोफी का संसार'** शीर्षक से। साहित्य और दर्शन के सम्बन्ध में मेरा कहना यही है कि असल में साहित्य और दर्शन का लक्ष्य एक ही है। वह लक्ष्य है - जीवन को समझना। कोई भी साहित्यिक कृति जब हम पढ़ते हैं तो वह जीवन के किसी न किसी पक्ष को उजागर अवश्य करती है। इसी के साथ नैतिकता सम्बन्धी चिन्तन और दृष्टि साहित्य का अभिन्न अंग है। नैतिक दृष्टि की सार्थक अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से ही सम्भव होती है। दर्शन और साहित्य में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं है। दर्शन में हम तर्क के माध्यम से अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हैं और साहित्य में कथानक के माध्यम से वही बात कहते हैं। दोनों में अभिव्यक्ति की शैली, विधि और माध्यम का ही अन्तर है।

आज देश में और विश्व में कई तरह के संकट खड़े दिखाई दे रहे हैं। इन सब हालातों के बावजूद साहित्य की अपनी एक पहचान है। आने वाले समय में साहित्य का भविष्य कैसा हो सकता है, इसमें क्या संभावनाएं हैं इस पर आप अपने विचार रखिये?

जब तक इंसान है, उसका अस्तित्व है, उसमें मानवीय सीमाओं की पहचान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सबसे पहले हमारी सीमा है कि हम मरणशील हैं। वर्तमान में अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेने के बावजूद भी हम सर्वज्ञ नहीं हैं यह हमारे ज्ञान की भी सीमा है। इस प्रकार इच्छाओं की पूर्ति तथा अपने कार्यों की सफलता के बारे में भी कई सीमाएं हमारे जीवन में मौजूद हैं। जब तक मनुष्य की सीमाएं हैं तब तक हमें साहित्य और दर्शन दोनों की आवश्यकता रहेगी। इसलिए हमें कभी भी दर्शन अथवा साहित्य की सार्थकता के बारे में निराश नहीं होना चाहिए पूर्णतया आश्वस्त रहना चाहिए। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में जो समझ साहित्य और दर्शन देते हैं वो विज्ञान या आजकल पनप रहे अनेक नये विषयों से नहीं मिल सकती। इसके पीछे कारण है कि मनुष्य की लालसा है जीवन को समग्रता में देखने की। इसी समग्रता हेतु हम सदैव प्रयासरत रहते हैं और इसी समग्रता हेतु रचनाकार रचता रहता है। आज कई बार हमें कहा जाता है कि इंसानियत की कोई जरूरत नहीं है, इसे म्यूजियम में रख दो। आज की शिक्षा-प्रणाली पर भी इसी प्रकार का संकट दिखाई दे रहा है। इन सब स्थितियों के बावजूद भी हमें निराश नहीं होना चाहिए। जब तक मानव में उत्कृष्टता प्राप्त करने की लालसा है, जब तक वह जिन्दा है, तब तक जीवन की आलोचना भी होती रहेगी और नया सृजन भी होता रहेगा।

समीक्षा के लिए पुस्तकें आमंत्रित

जेएनयू परिसर में पुस्तक समीक्षा के नाम से एक नया स्तम्भ शुरू किया जा रहा है। विश्वविद्यालय समुदाय के सदस्यों से आग्रह है कि वे आगामी अंकों के लिए अपनी हिंदी में प्रकाशित पुस्तकें समीक्षार्थ निम्नलिखित पते पर भिजवाएं : प्रबंध संपादक, जेएनयू परिसर, हिंदी यूनिट, 301, प्रशासन भवन, जेएनयू, नई दिल्ली, 110067

मेरे लिए साहित्य एक माध्यम नहीं, बल्कि स्वयं एक लक्ष्य की तरह है

प्रसिद्ध लेखक प्रोफेसर ए. के. रशीद अफगानिस्तान के रहने वाले हैं तथा आजकल भाषा साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान में विजिटिंग प्रोफेसर हैं, यहाँ प्रस्तुत हैं उनसे नीलमणी भारती और मुश्ताक अहमद की बातचीत के प्रमुख अंश।

आपने साहित्य सृजन की शुरुआत कब से की और लेखन के आरंभिक दौर में क्या ऐसे कोई रचनाकार या रचना हैं जिसे पढ़कर आपको साहित्य के गहन अध्ययन हेतु प्रेरणा मिली हो ?

मैंने साहित्य सृजन की शुरुआत लगभग कक्षा 10 में शेर-ओ-शायरी से की। शेर-ओ-शायरी में दिलचस्पी का एक कारण यह भी था कि हमारे शहर में शायरियां बहुत होती थीं। मशहूर शायर गजनी मुझे बेहद पसंद थे। साहित्य में मेरी दिलचस्पी के कारण ही कक्षा 12 के बाद विश्वविद्यालय में मैंने साहित्य में आगे की पढ़ाई की। मुझे पश्तो और परशियन साहित्य में दिल से रुचि थी। आगे का अध्ययन मैंने काबुल यूनिवर्सिटी से किया और एम.ए. (द्वितीय वर्ष) के दौरान लेखन कार्य करने लगा। इसी वर्ष मेरी पहली कहानी अफगानिस्तान की एक पत्रिका में छपी। इसी क्रम में अध्ययन के साथ-साथ साहित्य सृजन में मेरी रुचि बढ़ती गई। इस दिशा में प्रेरित करने वाले मेरे पहले आदर्श मेरे साहित्य के अध्यापक थे जिन्होंने मुझे प्रोत्साहन दिया और मेरा मार्गदर्शन किया।

साहित्य सृजन के दौरान आपको व्यक्तिगत समस्या अधिक प्रभावित करती है अथवा सामाजिक समस्या?

मैं अपने लेखन में सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों समस्याओं को समान रूप में महत्त्व देता हूँ। इसके पीछे मेरा मानना है कि मेरे लिए एक ओर जो मेरा अपना है जिसे हम 'individual' कहते हैं यह बहुत अहम् है। क्योंकि मैं एक बनाने वाला आदमी हूँ। एक 'creater' हूँ। एक 'creater' की तरह मेरे लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि मैं समाज के लिए क्या बना सकता हूँ। समाज को क्या दे सकता हूँ। इसलिए सबसे पहले मेरे लिए इजादगार अर्थात् शायर (creater) का रुख बहुत महत्त्वपूर्ण है जो सृजन के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। अतः मैं कह सकता हूँ कि पहले मेरी अपनी रुचि महत्त्वपूर्ण है फिर समाज की, लेकिन फिर भी मेरे लिए दोनों का महत्त्व है।

आपके अनुसार साहित्य और विचारधारा का परस्पर सम्बन्ध कैसा होना चाहिए? वर्तमान में इसकी स्थिति क्या है?

विचारधारा के सम्बन्ध में मेरा मानना है कि एक इंसान के लिए विचारधारा और विचार दोनों बहुत अहम् हैं। यह एक तरह से जिन्दगी में एक लक्ष्य है। साहित्य जीवन में एक माध्यम है। मेरा मानना है कि साहित्य जीवन में खुद वसीला है यानी कि विचार है। मेरे अनुसार साहित्य एक विचार है। साहित्य स्वयं एक सिद्धांत है। यह स्वयं में एक समाज है। मेरे लिए साहित्य एक माध्यम नहीं बल्कि स्वयं एक लक्ष्य की तरह है।

अफगानिस्तान में भी समृद्ध रूप में साहित्य रचा गया है जो कि वहां के समाज, संस्कृति को दर्शाता है। ठीक इसी प्रकार भारत में भी साहित्य सृजन हुआ है। दोनों देशों के साहित्य में सांस्कृतिक रूप से क्या भिन्नताएं देखने को मिलती हैं?

मेरे ख्याल से दोनों देशों की साहित्य अभिव्यक्ति में भिन्नताएं तो हैं और इस के पीछे वातावरण की अहम् भूमिका रही है। मैं भारत में लगभग 20 वर्षों से रह रहा हूँ और मुझे यहां बहुत शान्ति का अहसास होता है। लोग यहां विकास के बारे में सोचते हैं। अफगानिस्तान में माहौल थोड़ा अलग है। वहां साहित्य का उद्देश्य है शान्ति की प्राप्ति का प्रयास। मैंने कई कहानियाँ, उपन्यास लिखे हैं जिनमें प्रयास है झगड़े से, युद्ध से भागना। हम शान्ति के बारे में सोचते हैं। यहां और वहाँ की साहित्य सोच में अंतर है। मैं भारत और अफगानिस्तान दोनों के संपर्क में रहा हूँ। भारतीय साहित्य और माहौल से भी मुतासिर हूँ और अफगानिस्तान के माहौल से भी। मैंने हाल ही में एक उपन्यास लिखा है 'यहाँ खुदाई खुश है' (Gods are Happy Here)। इसमें जो माहौल मैंने चित्रित किया है पूरी तरह से भारतीय है लेकिन फिर भी कुछ-कुछ जगहों पर अफगानिस्तान के माहौल की झलक इसमें दिखाई देती है। वहां युद्ध का माहौल है और लोग शान्ति चाहते हैं। मेरे साहित्य सृजन में भारत और अफगानिस्तान दोनों का प्रभाव सम्मिलित रहता है।

आज देश में और विश्व में कई तरह के संकट खड़े दिखाई दे रहे हैं। इन सब हालातों के बावजूद साहित्य की अपनी एक पहचान है। आने वाले समय में साहित्य का भविष्य कैसा हो सकता है, इसमें क्या संभावनाएं हैं इस पर अपने विचार रखिये ?

मैंने कई मुल्कों को देखा है वहां अध्ययन-अध्यापन किया है। वहां के रचनाकारों से मेरा बहुत गहरा सम्बन्ध भी है। इस सन्दर्भ में मैंने देखा कि कुछ लोग अपने फायदे के लिए साहित्य का इस्तेमाल करते हैं। लेकिन हम लोग साहित्य का सृजन करते हैं। हम साहित्य में मानवता को बनाये रखने के जो मूल्य हैं उन्हें महत्त्व देते हैं, उन पर ज्यादा फोकस करते हैं, उनकी अभिव्यक्ति करते हैं। लेकिन पश्चिमी देशों में ऐसा नहीं है। यहां तक कि यूरोप, अमेरिका में भाषा का कोई विभाग ही नहीं है। वहां साहित्य के केन्द्रों में मात्र तुलनात्मक अध्ययन ही है। वे हमारे देशों से साहित्य लेकर वहां अध्ययन करवाते हैं। वे यहां के साहित्य को टाइकून की तरह शक्ल देते हैं और उसे 'CREATION' का नाम देते हैं। जबकि यहां एशिया में साहित्य समृद्धि देखने को मिलती

है। उर्दू यहां शायरी की सबसे बड़ी जबां हैं और पश्तो यहां की दूसरी सबसे बड़ी भाषा है। मेरा मानना है कि एशिया में साहित्य काफी समृद्ध है और इसी के साथ इसका भविष्य भी समृद्ध है।

आपने काफी समय से साहित्य सृजन किया है। कई कहानियां, उपन्यास आदि विधाओं में लेखन किया है। निस्संदेह आप पश्तो के अच्छे जानकार भी हैं। अपने लेखन के विषयों और भाषा के बारे में कुछ जानकारी दीजिये?

फिलहाल मेरी पचास से ज्यादा कहानियां हिंदी, उर्दू, गुजराती, बंगाली में छप चुकी हैं। पश्तो में लिखी गई जो शॉर्ट स्टोरी है उसका मैंने हिन्दी में भी अनुवाद किया है। लघु कहानियों के पांच संग्रह मेरे छप चुके हैं। यदि कविता की बात की जाए तो मैं पश्तो और हिन्दी दोनों में कविता करता हूँ। मेरे दो उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'GODS ARE HAPPY HERE' का जिक्र मैंने पहले भी किया है। यह पश्तो भाषा में लिखा गया है। मेरे लेखन में भारत के साथ ही साथ, अफगानिस्तान के समाज वहां की संस्कृति को भी विषय के रूप में सम्मिलित किया गया है। वर्तमान में अफगानिस्तान में वारदातें बहुत लिखी जा रही हैं यह वहां की बहुत सफल विधा के रूप में सामने आई है। इन वारदातों का प्रमुख विषय है जो लोग बाहर से अफगानिस्तान आते हैं उनकी दुर्दशा को अभिव्यक्त करना।

अफगानिस्तान में लेखन की स्वतन्त्रता या अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के बारे में आपके क्या विचार हैं? भारत में जैसे किसी भी विषय पर आलोचना करने की, अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता है क्या अफगानिस्तान में भी ऐसी स्वतंन्त्रता है?

यदि आजादी की बात कहें तो आजादी तो अफगानिस्तान में भी है लेकिन वहां कई अन्य प्रकार की समस्याएँ भी हैं। पहली बात कि वहां पर माहौल ठीक नहीं है, झगड़े चलते रहते हैं, कई बार खतरनाक हालात बन जाते हैं। दूसरा कि वहां 'STABILITY' (स्थिरता) नहीं है। वहाँ के विश्वविद्यालयों के जो पश्तो, परशियन अध्यापक हैं वे बाहर की चर्चा ज्यादा करते हैं बनिस्पद की अपने देश की स्थितियों को गंभीरतापूर्वक लेने के। अफगानिस्तान में अशान्ति बहुत बड़ा खतरा है। लड़ाई का खतरा हर लम्हा बना रहता है। इन सब विपरीत परिस्थितियों के बावजूद वहां के साहित्य में 'FUNDAMENTALISM, TERRORISM, LEADERSHIP' आदि के खतरों पर चर्चा की जाती है। शेर-ओ-शायरी में भी इस तरह के यथार्थ की अभिव्यक्ति की जाती है। वहाँ के साहित्य में आलोचना की परम्परा भी विकसित हुई है।

आखिरी प्रश्न है कि जैसे आज हम देखते हैं कि भारत में सेंसरशिप का खतरा है। सेंसरशिप को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता खत्म करने के माध्यम के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। क्या उसी प्रकार अफगानिस्तान में भी स्टेट से सेंसरशिप का खतरा है ?

अफगानिस्तान में फिलहाल यह नहीं है क्योंकि वहां स्टेट 'STABLE' (स्थिर) नहीं है। दूसरी बात यह कि यह बात 'SO CALLED DEMOCRACY' के साथ चल रही है। 'SO CALLED DEMOCRACY' से आशय है कि हमने प्रजातंत्र को दिल से नहीं अपनाया है, यह समाज के मूल में, लोगों के दिल में नहीं है बल्कि ऊपर से 'IMPOSE' कर दी गई है। अतः सबसे पहले 'DEMOCRACY' (लोकतंत्र) को दिल से अपनाने की जरूरत है।

अभिग्या श्री (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

कथा

ईडन की बगिया

जॉस्टिन गार्डर

*जॉस्टिन गार्डर दर्शनशास्त्र के एक महत्वपूर्ण प्राध्यापक रहे हैं। **सोफी का संसार** उनकी एक चर्चित औपन्यासिक कृति है जिसमें उन्होंने दर्शनशास्त्र की जटिलताओं को बहुत ही आसान और मजेदार किस्सों में पाठकों के सामने रखा है। पिछले दिनों जेएनयू में दर्शनशास्त्र के प्रो. सत्यपाल गौतम ने उसका हिंदी अनुवाद किया जिसका प्रकाशन राजकमल प्रकाशन समूह से हुआ है। यहाँ प्रस्तुत है, इस कृति के प्रारंभिक अंश। यह अंश हमें अनुवादक प्रो. सत्यपाल गौतम के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।*

किसी क्षण अवश्य ही कुछ शून्य से निकलकर आया होगा....

सोफी एमंडसन स्कूल से अपने घर की ओर आ रही थी। वापसी के शुरूवाले हिस्से में जो आना उसके साथ थी। वे रोबोट्स पर चर्चा कर रही थी। जोआना सोचती थी कि मनुष्य का मस्तिष्क एक उन्नत कम्प्यूटर जैसा ही है, पर सोफी उससे पूरी तरह सहमत नहीं थी। निश्चय ही एक व्यक्ति महज मशीन ही तो नहीं होता न!

सुपर मार्केट पहुँचने के बाद वे अपने अलग-अलग रास्तों पर चल पड़ीं। सोफी एक पसर रहे उपनगर के बाहरी हिस्से में रहती थी, और वहाँ से स्कूल की दूरी, जोआना की तुलना में दुगुनी थी। उसके घर के आगेवाले बाग से परे कोई और मकान नहीं थे, जिससे ऐसा लगता था कि उनका मकान दुनिया के आखिरी छोर पर है, जहाँ से आगे वन शुरू हो जाते थे।

नुक्कड़ से घूमकर वह क्लोवर क्लोज में आ गई। सड़क के आखिरी सिरे पर एक तीखा मोड़ था, जिसे कैप्टेन्स बैन्डड कहते थे। साप्ताहांत को छोड़कर लोग उस तरफ अक्सर नहीं जाते थे।

मई के शुरुआती दिन थे। कुछ बागों में फलदार वृक्ष डैफोडिल्स के घने गुच्छों से घिरे हुए थे। बर्च के वृक्षों पर पहले से ही हल्के हरे पत्ते आने लगे थे।

कितनी अद्भुत बात थी कि वर्ष के इस समय न जाने कैसे हर चीज फूट निकलती थी। क्या बात थी कि बर्फ के आखिरी निशाँ गायब होते और मौसम में हल्का गुनगुनापन आते ही, मरी हुई धरती से हरी वनस्पति का विशाल कलेवर बाहर उमड़ पड़ता था!

जैसे ही सोफी ने अपने बाग का दरवाजा खोला, उसने मेल-बॉक्स में झांका। प्रायः भारी मात्रा में बेकार की डाक होती और कुछ बड़े लिफाफे उसकी माँ के नाम होते। एक ऐसा ढेर जिसे वह रसोई की मेज पर पटक देती और फिर ऊपर अपने कमरे में होमवर्क शुरू करने के लिए जा पहुँचती।

कभी-कभी उसके पिता के नाम बैंक से भी कुछ पत्र होते पर उसके पिता एक साधारण पिता नहीं थे। सोफी के पिता एक बड़े तेलवाहक जहाज के कैप्टेन थे और वर्ष का अधिकतर समय बाहर यात्रा पर ही रहते थे। जब कभी कुछ सप्ताहों के लिए वह घर पर होते, तो सोफी और उसकी माँ के लिए घर को सुखद और आरामदेह बनाने के लिए घर में चीजों को सजाते-संवारते रहते। किन्तु जब वह समुद्री अभियान पर होते तो कहीं बहुत दूर जा चुके प्रतीत होते।

मेल-बॉक्स में केवल एक ही पत्र था और वह था सोफी के नाम। सफेद लिफाफे पर लिखा था : 'सोफी एमंडसन, 3 क्लोवर क्लोज'। बस इतना ही, भेजनेवाला कौन है, यह कहीं नहीं लिखा था। इस पर कोई टिकट भी नहीं थी।

सोफी ने गेट बन्द करते ही लिफाफा खोला। अन्दर लिफाफे के साइज के बराबर कागज की स्लिप थी। लिखा था : तुम कौन हो?

और कुछ नहीं, केवल तीन शब्द, हाथ से लिखे हुए और उनके बाद एक बड़ा प्रश्नचिह्न?

उसने लिफाफे को दोबारा देखा। पत्र तो निश्चय ही उसी के लिए था। आखिर मेल-बॉक्स में इसे किसने डाला होगा?

सोफी जल्दी-जल्दी लाल मकान में चली आई। हमेशा की तरह आज भी उसकी बिल्ली, शेरेकन, फुर्ती से झाड़ियों से निकलकर आगे बढ़ती पैड़ी पर कूदी और इससे पहले कि सोफी घर का दरवाजा बन्द करती अन्दर आ गई।

जब सोफी की माँ का मूड ठीक नहीं रहता, तो वह घर को मैनेजरी, जंगली जानवरों का संग्रहालय कहती। निश्चय ही सोफी के पास यह संग्रहालय था और वह इससे काफी खुश थी। इसकी शुरुआत हुई थी तीन सुनहरी मछलियों से-गोल्डटॉप, रैड राइडिंग हुड और ब्लैक जैक। उसके बाद वह दो आस्ट्रेलियाई बाजीगर मिट्ठू ले आई, जिनके नाम स्मिट और स्म्यूल थे, फिर गोविन्दा नामक कछुआ आया और अन्त में मार्मलेड जैसी बिल्ली, शेरेकन। यह सब उसे इसलिए दिए गए थे, क्योंकि उसकी माँ कभी भी अपने काम से दोपहरी बीतने के भी काफी देर तक घर नहीं लौट पाती थी और उसके पिता तो अधिकांश समय बाहर ही रहते थे, साड़ी दुनिया में समुद्री यात्राएं करते हुए।

सोफी ने अपना स्कूल-बैग फर्श पर एक कोने में लटका दिया और एक बड़े कटोरे में कैट-फूड भरकर शेरेकन के सामने रख दिया। फिर वह रहस्यमय पत्र अपने हाथ में लिये हुए रसोई में स्टूल पर बैठ गई।

तुम कौन हो?

उसे इसकी कोई समझ नहीं थी। हाँ, वह सोफी एमंडसन, अवश्य थी, किन्तु सच में वह थी कौन? वास्तव में इसका सुराग नहीं लगा पाई थी अब तक। अगर उसे कोई दूसरा नाम दे दिया गया होता, तो क्या होता? जैसे ऐनी नट्सेन, तो तब क्या वह कोई और हो जाती?

तब अचानक उसे याद आया कि शुरू में उसके पिता चाहते थे कि उसे लिलेमोर के नाम से जाना जाए। सोफी ने कल्पना करने का प्रयास किया कि वह लिलेमोर एमंडसन के रूप में अपना परिचय दे रही है और हाथ मिला रही है, किन्तु उसे यह सब गलत लगा। वह तो कोई और थी जो सबको अपना परिचय दिए जा रही थी।

वह कूद कर बाथरूम में चली गई, उस विचित्र पत्र को अपने हाथ में लिए हुए। अब वह दर्पण के सामने खड़ी रहकर अपनी आँखों की प्रतिछाया को एकटक देख रही थी।

'मैं सोफी एमंडसन हूँ,' उसने कहा।

दर्पण में मौजूद लड़की ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की कि थोड़ा-सा भी हिलती-डुलती। जो कुछ भी सोफी करती, वह भी हुबहू वैसा ही करती। सोफी ने दर्पण में अपनी प्रतिछाया को चपल गति से हराने की चेष्टा की, किन्तु वह भी उतनी ही तेज निकली।

'तुम कौन हो,' सोफी ने पूछा।

सोफी को इसका कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला, हाँ उसे क्षणिक भ्रम तो जरुर हुआ कि यह प्रश्न उसने पूछा था या उसकी प्रतिछाया ने।

सोफी ने अपनी वर्तनी शीशे में नाक पर लगाई और कहा, 'तुम मैं हो।'

जब उसे इसका भी कोई उत्तर नहीं मिला, तो उसने वाक्य को पलट कर कहा, 'मैं तुम हूँ।'

सोफी एमंडसन प्रायः अपनी शक्ल-सूरत से असंतुष्ट रहती थी। उसे अक्सर बतलाया जाता था कि उसकी आँखें सुन्दर हैं बादाम के आकार-सी, किन्तु लोग शायद सिर्फ ऐसा इसलिए कहते थे क्योंकि उसकी नाक कुछ ज्यादा छोटी थी और मुंह ज्यादा बड़ा। उसके कान भी आँखों के कुछ ज्यादा नजदीक थे। सबसे खराब थे उसके सीधे लटकते बाल, जिनके साथ कुछ भी करना असम्भव था। कभी-कभी उसके पिता उसके बालों को सहलाते और उसे क्लोड डेबुसी के एक संगीत रचना की तरज पर 'अलसी जैसे बालोंवाली लड़की' कहते। पिताजी के लिए तो यह ठीक था, क्योंकि उन्हें ऐसे सीधे-सपाट केशों के साथ जीने की कोई मजबूरी नहीं थी। सोफी के केशों पर न तो किसी खुशबूदार क्रीम और न ही किसी स्टाइलिंग जेल का कोई प्रभाव पड़ता। कभी-कभी सोफी सोचती कि वह कितनी भद्दी है, कहीं ऐसा तो नहीं कि वश जन्म से ही ऐसी बदशक्ल हो। उसकी माँ सदैव उसे जन्म देते समय हुई अपनी प्रसव-पीड़ा का जिक्र करती रहती थी। किन्तु क्या उसकी बदसूरती इसी कारण थी?

कितना अजीब था कि उसे यह भी नहीं मालूम कि वह असल में कौन थी? और क्या यह अनुचित नहीं था कि उससे इस बारे में कभी भी नहीं पूछा गया कि वह कैसी दिखना चाहती है? उसकी छवि तो बस उस पर मढ़ दी गई थी। वह अपने मित्रों को तो चुन सकती थी, किन्तु यह निश्चित था कि उसने स्वयं को खुद नहीं चुना था। उसने तो यह भी नहीं चुना था की वह एक मानुषी बनेगी।

मनुष्य होना क्या है?

सोफी ने फिर से शीशे में खड़ी लड़की पर निगाह डाली।

'मैं सोचती हूँ अब ऊपर जाकर जीव-विज्ञान का होमवर्क करूँगी', उसने लगभग क्षमायाचना के भाव से कहा। पर बाहर हॉल में आई तो फिर सोचने लगी। 'नहीं, इससे तो बेहतर होगा कि में बाग में जाऊं।'

'किट्टी, किट्टी, किट्टी।'

सोफी ने बिल्ली को भगाकर दरवाजे की पैड़ियों पर निकाल दिया और बाहर का दरवाजा बन्द कर दिया।

अब सोफी बाहर बजरीवाले रास्ते पर उस रहस्यमय पत्र को हाथ में लिए खड़ी थी कि एक बड़ा ही विचित्र भाव उसके शरीर में दौड़ गया। उसे लगा जैसे वह एक गुडिया है जिसे कोई जादुई छड़ी घुमाकर सजीव बना दिया गया है।

क्या यह अद्‌भुत नहीं था कि ठीक इस पल वह इस दुनिया में मौजूद है आश्चर्यजनक जोखिमपूर्ण संसार में इधर-उधर गुमते हुए!

शेरेकन कंकरीले रास्ते को हल्के से फुदककर पार कर गई और लाल करांट की घनी झाड़ियों में जा छुपी। सफेद मूंछों जैसे बालों से लेकर हिलती पूँछ तक प्राणवान ऊर्जा से भरी हुई, एक चपल छरहरी बिल्ली, यहां बाग में थी, पर उसके मन में सोफी जैसे विचार नहीं थे।

जैसे ही सोफी ने अपने जिन्दा होने के बारे में सोचना शुरू किया, तुरंत ही उसके मन में यह भी आया कि वह सदैव जीवित नहीं रहेगी। अभी मैं दुनिया में मौजूद हूँ, उसने सोचा, किन्तु एक दिन तो मैं यहाँ से चली जाऊँगी।

क्या मृत्यु के बाद जीवन है? यह एक अन्य प्रश्न था जिसके विषय में बिल्ली अपनी अनभिज्ञता में प्रसन्न थी।

सोफी की दादी माँ का देहान्त हुए कोई ज्यादा समय नहीं हुआ था। छः महीने से अधिक समय तक सोफी उन्हें हर रोज याद किया करती थी। कितना अनुचित है कि जीवन को समाप्त होना ही पड़ता है।

सोफी कंकरीले रास्ते पर सोचती हुई खड़ी थी। अपने जीवित होने को लेकर उसने और भी जोर से सोचने की चेष्टा की ताकि भूल सके कि वह सदैव जीवित नहीं रहेगी। किन्तु यह असम्भव था। जैसे ही वह अपने जीवित होने के अहसास पर ध्यान एकाग्र करती उसी क्षण अपने मरने की बात भी दिमाग में आ जाती। दूसरी तरह से सोचने की कोशिश करने पर वैसा ही हुआ। एक दिन वह मर जाएगी, इस बारे में तीव्रता से सोचने पर ही वह अभी अपने जीवित होने की अद्‌भुत सुन्दरता और अच्छाई का भरपूर आनन्द महसूस कर सकती थी। यह अनुभूति एक सिक्के के दो

पहलुओं जैसी थी, जिसे वह बराबर उलट-पुलट रही थी। और जैसे ही सिक्के का एक पहलू बड़ा और ज्यादा साफ होता वैसे ही दूसरा पहलू भी उतना ही बड़ा और साफ नजर आने लगता।

उसे लगा कि जीवित होने का अनुभव आप यह महसूस किए बिना नहीं कर सकते कि आप को मरना है। यह महसूस करना कि आपको मर जाना है तब तक नामुमकिन है जब तक अप यह न सोचें कि जीवित होना कितना अद्‌भुत है, कितना अविश्वसनीय रूप से विस्मयकारी।

सोफी को याद आया कि दादी माँ ने भी उस दिन कुछ ऐसा ही कहा था जब डॉक्टर ने उन्हें बताया था की वह बीमार हैं। 'मैंने आज से पहले यह कभी महसूस नहीं किया की जीवन कितना अद्‌भुत है।' दादी ने कहा था।

कैसी विडम्बना है! यह समझने के लिए कि जीवित रहना कैसा सुन्दर उपहार है लोगों को बीमार होना पड़ता है या फिर उन्हें अपने मेल-बॉक्स में एक रहस्यमय पत्र को प्राप्त करना होता है।

शायद उसे जाकर देखना चाहिए कि कोई और पत्र तो नहीं आए हैं। सोफी जल्दी-जल्दी गेट के पास गई और हरे रंग के मेल-बॉक्स में झाँका। यह देखकर वह चौंक गई कि उसमें एक सफेद लिफाफा और पड़ा था, बिल्कुल पहले जैसा। किन्तु जब उसने पहला लिफाफा निकाला था, तब तो मेल-बॉक्स बिलकुल खाली हो गया था। इस लिफाफे पर भी उसका नाम लिखा था। उसने इसे फाड़कर खोल लिया और अन्दर से एक कागज निकाला, यह भी बिलकुल पहले वाले साइज का था।

दुनिया कहाँ से आई? इस कागज पर लिखा था।

मुझे नहीं मालूम! सोफी ने सोचा। सच तो यह है इस बारे में कोई कुछ भी नहीं जानता फिर भी उसे लगा यह प्रश्न उचित ही था। उसने अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया कि कम-से-कम यह पूछे बिना कि दुनिया कहाँ से आई, दुनिया में रहना उपयुक्त नहीं है।

इन रहस्यमय पत्रों से सोफी का दिमाग चकराने लगा। उसने फैसला किया कि वह अपनी मांद में जाकर बैठेगी।

मांद सोफी की छिपने की सबसे अधिक गुप्त जगह थी। जब वह बहुत गुस्से में होती या बहुत दुखी होती या फिर अत्यन्त प्रसन्न होती थी तो वह आकर इसी जगह छिप जाती थी। आज तो वह दिग्भ्रमित थी।

लाल मकान के चारों ओर बहुत बड़ा बाग था, उसमें बहुत-सी फूलों की क्यारियाँ, फलों की झाड़ियाँ, विभिन्न प्रकार के फलों के वृक्ष, एक लम्बा-चौड़ा लॉन था जिसमें एक झूला और एक समर हाउस था जिसे दादाजी ने दादी माँ के लिए बनवाया था, यह उन दिनों की बात है जब उनकी पहली बच्ची जन्म के कुछ सप्ताहों के अन्दर ही चल बसी थी। उस बच्ची का नाम मेरी था। उसकी कब्र के पत्थर पर यह शब्द लिखे थे : 'छोटी मेरी हमारे पास आई, हमारा अभिवादन किया, और फिर चली गई।'

बाग के एक कोने में रसभरी की झाड़ियों के पीछे एक घना झुरमुट था जहाँ न फूल लगते थे और न ही बेरियाँ। वास्तव में यह एक पुरानी बाड़ थी जो किसी समय बाग की बाउंड्री के रूप में लगाई गयीं थी, पर क्योंकि इसे पिछले बीस वर्षों से काटा-छांटा नहीं गया था, यह बढ़ती-बढ़ती इतनी घनी और उलझ गई थी कि कुछ भी इसके आरपार नहीं जा सकता था। दादी माँ कहा करती थीं कि पिछले युद्ध के दौरान इसी झाड़ी के कारण लोमड़ियों के लिए चूजे उठा ले जाना बेहद कठिन हो गया था, जबकि वे बाग में खुले घूमते थे।

सोफी को छोड़कर बाकी सबके लिए यह झाड़ी उतनी ही बेकार थी जितना बाग के दूसरे छोर पर खरगोशों का बाड़ा। किन्तु ऐसा इसलिए था कि कोई भी सोफी का गोपनीय भेद जानता नहीं था।

सोफी को झाड़ियों में बने छोटे से छेद की बहुत पहले से जानकारी थी। वह रेंगती हुई छेद के पार निकली तो झाड़ियों के बीच बनी एक बड़ी खोखर में जा पहुँची। यह जगह एक चोटी मांद जैसी थी। वह निश्चिंत थी कि यहाँ उसे कोई नहीं ढूंढ सकेगा।

दोनों लिफाफों को हाथ में थामे सोफी बाग में दौड़ती गयीं, फिर हाथों और पांवों के बल घुटनों चलती हुई वह झाड़ी में घुस गई। इस गुप्त मांद में इतनी जगह थी कि सोफी उसमें सीधी खड़ी हो सकती थी, किन्तु आज वह टेढ़ी-मेढ़ी जड़ों के एक ढेर पर बैठ गई। वहाँ बैठकर वह पत्तों और टहनियों के बीच बने छोटे-छोटे छिद्रों से बहार देख सकती थी। हालाँकि कोई भी छेद किसी छोटे सिक्के से बड़ा नहीं था, फिर भी वह सारे बाग पर अच्छी नजर रख सकती थी। जब वह छोटी थी तो उसे वहाँ पेड़ों के बीच उसे ढूंढते फिरते से माता-पिता को देखने में बड़ा मजा आता था। उसके लिए यह एक खेल था।

सोफी सदा ही यह सोचती थी कि यह बाग एक अलग ही दुनिया है। जब भी वह बाइबिल में ईडन की बगिया की बात सुनती तो उसे लगता कि यह गुप्त स्थान भी वैसा ही है जहाँ बैठकर वह छोटे से स्वर्ग का सर्वेक्षण कर रही है।

दुनिया का निर्माण कैसे हुआ?

इस बारे में वह कुछ भी नहीं जानती थी। सोफी को इतना मालूम था कि धरती अन्तरिक्ष में एक छोटा-सा ग्रह है। लेकिन अन्तरिक्ष कहाँ से आया?

ऐसा सम्भव था कि अन्तरिक्ष सदा से ही रहा हो, इस सूरत में उसे यह पता लगाने की जरुरत नहीं है कि यह कहाँ से आया। पर क्या कोई चीज हमेशा से ही होती है और हमेशा ही बनी रह सकती है? उसके मन की गहराई में इस विचार के विरोध का भी कोई आधार था। निश्चय ही दुनिया में मौजूद हर चीज का आरम्भ कभी न कभी तो हुआ ही होगा। इसलिए अन्तरिक्ष भी सम्भवतया किसी समय किसी दूसरी चीज से बनाया गया होगा।

किन्तु यदि अन्तरिक्ष किसी दूसरी चीज से बना, तो वह दूसरी चीज भी किसी अन्य चीज से बनाई चाहिए। सोफी ने महसूस

किया कि वह मूल समस्या को सिर्फ टालती जा रही है। किसी बिन्दु पर कोई चीज शून्य से बनी होनी चाहिए। क्या यह बात उस असम्भव विचार की तरह नहीं है कि इस संसार का अस्तित्व सदा से रहा है बिना किसी प्रारम्भ के?

उन्होंने स्कूल में सिखा था कि ईश्वर ने दुनिया को बनाया है। सोफी ने स्वयं को सांत्वना देने का प्रयास किया कि संभवतः यही इस समस्या का सबसे बढ़िया समाधान है। किन्तु उसने फिर से सोचना शुरू कर दिया। वह यह तो स्वीकार कर सकती थी कि ईश्वर ने अन्तरिक्ष बनाया, किन्तु फिर स्वयं ईश्वर कहाँ से आया? क्या उसने स्वयं को शून्य से बनाया था? एक बार फिर उसकी मन की गहराई में कुछ था जो इस विचार का विरोध कर रहा था। माना कि ईश्वर सब प्रकार की चीजें बना सकता है किन्तु वह स्वयं को तब तक नहीं बना सकता जब तक उसके पास बनाने के लिए 'स्व' न हो। तो बस एक संभावना शेष बची रह जाती है : ईश्वर का अस्तित्व सदा रहा है। हर चीज का, जो भी अस्तित्ववान है, एक आरम्भ तो होना ही चाहिए।' (वैदिक नासदीय सूक्ति भी इसी प्रकार की जिज्ञासाओं के परस्पर विरोधी समाधानों की सिद्धि-असिद्धि की संभावनाओं पर सन्देह व्यक्त करती है।)

उफ, कैसी उलझन है!

उसने दोनों लिफाफे फिर खोल डाले :

तुम कौन हो?

दुनिया कहाँ से आई?

नाहक परेशान करने वाले सवाल? और हाँ, यह पत्र कहाँ से आया, यह बात भी लगभग उतनी ही रहस्यमय थी।

वह कौन है जिसने सोफी के जीवन को झंझोड़ कर रख दिया था और अचानक ही उसे विश्व की सबसे गूढ़ पहेलियों के सामने ला खड़ा किया था?

सोफी तीसरी बार फिर मेल-बॉक्स के पास गई। कुछ क्षण पहले ही डाकिया आज की डाक डाल गया था। सोफी ने इसमें से बेकार चिट्ठियों का बड़ा सा ढेर बाहर निकाला, जिसमें कुछ पत्र-पत्रिकाएं थीं और कुछेक पत्र उसकी माँ के लिए थे। एक पोस्टकार्ड था, उष्णकटिबंधीय समुद्री तट का चित्र बना था इस पर। उसने कार्ड को उल्टा। इस पर नार्वे की डाक-टिकट लगी थी और इस पर डाक-चिह्न था 'यू एन बटालियन।' क्या इसे पापा ने भेजा था? किन्तु वह तो इस समय एकदम किसी दूसरी जगह पर थे? और हैंडराइटिंग (हस्त-लेखन) भी उनकी नहीं थी।

जब सोफी ने देखा कि पोस्टकार्ड पर लिखा है 'हिल्डे मोलर नैग, मार्फत सोफी एमंडसन, 3 क्लोवर क्लोज...' तो उसकी नब्ज तेज चलने लगी। बाकी पता बिलकुल सही था। कार्ड पर लिखा था :

'प्रिय हिल्डे, 15वें जन्मदिन की शुभकामनाएं। मुझे भरोसा है तुम यह समझ जाओगी कि मैं तुम्हें ऐसा उपहार देना चाहता हूँ जो तुम्हारे बड़े होने में मदद करेगा। इस कार्ड को सोफी मार्फत भेजने के लिए क्षमा करना। यह सबसे आसान तरीका था। पिता की ओर से प्यार।'

सोफी दौड़ती हुई वापस मकान में पहुँची और रसोई में चली गई। उसके दिमाग में गहन उथल-पुथल हो रही थी। यह हिल्डे कौन थी, जिसका पंद्रहवां जन्मदिन उसके अपने जन्मदिन से एक महीने पहले पड़ रहा था?

सोफी ने टेलिफोन की डायरेक्टरी निकाली। मोलर नाम से बहुत सारे आदमी थे, और कई नैग नाम के भी। किन्तु पूरी डायरेक्टरी में मोलर नैग के नाम से कोई नहीं था। उसने रहस्यमय कार्ड को दोबारा ध्यान से देखा। कार्ड तो सही लगता था। इस पर टिकट भी लगा था और डाकखाने की मुहर भी थी।

आखिर कोई पिता अपनी बेटी के जन्मदिन की बधाई का कार्ड सोफी के पते पर क्यों भेजेगा जबकि कार्ड किसी दूसरे पते पर जाना चाहिए था। किस तरह एक पिता जानबूझकर उसके जन्मदिन का कार्ड दूसरी जगह भेजकर अपनी बेटी को धोखा देना चाहेगा? यह सबसे आसान तरीका कैसे हो सकता है? और सबसे बड़ी बात यह थी की वह 'हिल्डे' नाम की लड़की का पता कैसे लगा पाएगी?

सोफी के सामने चिंता करने के लिए अब एक और समस्या खड़ी हो गई थी। उसने अपने गड्डमड्ड विचारों को व्यवस्थित करने की कोशिश की।

आज तीसरे पहर, दो घंटों की छोटी समयावधि में, उसके सामने तीन उलझनें परोस दी गई थीं। पहली समस्या थी वे दो सफेद लिफाफे उसके मेल-बॉक्स में किसने रखे। दूसरी पहेली वे कठिन प्रश्न थे जो इन लिफाफों में रखे कागजों में लिखे थे। तीसरी परेशानी थी, यह हिल्डे मोलर नैग कौन हो सकती है, और उसका जन्म-दिन बधाई कार्ड सोफी को नार्वे से क्यों भेजा गया है। उसे विश्वास था कि यह तीनों समस्याएँ किसी-न-किसी रूप में आपस में जुड़ी हुई हैं। ऐसा होना चाहिए, क्योंकि आज तक तो वह पक्की तरह से एक साधारण जीवन ही जीती आ रही थी।

मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ, अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिन्दवी में पूछो जिसमें कि मैं कुछ अद्‌भुत बातें बता सकूँ।
- अमीर खुसरो

कुत्तों वाली गाड़ी

मुहम्मद असलम इस्लाही

प्रोफेसर मुहम्मद असलम इस्लाही, जेएनयू के भाषा संस्थान में अरबी भाषा के प्राध्यापक होने के साथ-साथ एक महत्त्वपूर्ण कहानीकार भी हैं। यहाँ प्रस्तुत है, भारतीय भाषा केन्द्र की शोधछात्रा बेनजीर द्वारा की गयी उनकी एक नई कहानी का अनुवाद।

हम जिस बस्ती में रहते हैं, उसका रकबा काफी फैला हुआ और व्यापक है। उसमें कई मुहल्ले और गलियां आबाद हैं। जिस तरह उन गलियों और मुहल्लों के नाम अलग-अलग हैं वैसे ही उसमें बस रहे लोगों के रहन सहन भी अलग-अलग तरह के हैं। हकीकत यह है कि इनकी सामाजिक हैसियतों का अन्दाजा भी इनके गलियों और मुहल्लों के बनाह पर लगाया जा सकता है। लेकिन उन सभों में ध्यान देने वाली जो खास चीज़ है वह है खुंखार और वहशतनाक कुत्ते। यहाँ कोई गली, मुहल्ला या चौराहा ऐसा नहीं है जहां एकआध दर्जन कुत्ते न हों। यहां तरह-तरह के कुत्ते हैं। भूरे, काले, चितकबरे कुत्ते उनकी कद काठी को देखकर यह अन्दाज़ा लगाना मुश्किल है कि उनका तालुक किसी एक नस्ल से है। उनकी हकीकत कुछ भी हो लेकिन उन कुत्तों में वाहमी टकराव सिर्फ उसी हालत में होता है जब किसी एक घर का कुत्ता अपनी हदबन्दियों को पार करके दूसरे घरों के इलाके में दाखिल हो जाता है। यह हदबन्दियां किसने बनाई हैं यह कहाँ से शुरू होती है और कहाँ खत्म हो जाती है उसको समझना हम इंसानों के बस की बात नहीं है क्योंकि उनका मामला हिन्दुस्तान और चीन के बीच उलझा हुआ विवादित सरहदों जैसा है। जिस तरह हिन्दुस्तान और चीन के बीच सीमाओं से जुड़ी हुई खबरें आए दिन हमारे अखबारों की शोभा बनती रहती हैं उसी तरह हमारी गलियों और मुहल्लों के कुत्तों के विभिन्न समूहों के दरमियान आये दिन मारपीट होती रहती है।

इस सिलसिले में अफसोसनाक बात यह है कि इन लड़ाई झगड़ों के लिए न तो कोई दिन मुकर्रर है और न ही कोई वक्त। यह कभी किसी वक्त भी छिड़ सकती है लेकिन यह लड़ाई जब रात के सन्नाटे और खासतौर से सोने के वक्त शुरू होती है तो जी चाहता है कि इन्सानों की बस्ती छोड़ किसी वीराने को आबाद किया जाये। लेकिन ऐसा वीराना है कहाँ, जहाँ जंगो जिदाल न हो। जहाँ कुत्ते नहीं लड़ते हों। जहां आए दिन इन्सान आपस में न भिड़ते हों। बहरहाल, मुहल्ले में अगर रहना है तो कुत्तों के आए दिन होने वाले हंगामो को बरदाश्त करना ही पड़ेगा तो; नही तो "नाहक हम मजबूरों पर तोहमत है मुख्तारी की" अर्थात बिना वजह हम लोगों को ताकतवर समझा जाता है। मजबूरी और मुख्तारी के अपने-अपने फायदे और नुकसानात होते हैं। कुत्तों की लड़ाई से ताल्लुक हमारी एक दीगर मजबूरी यह है कि अगर हम उनकी ज़बान समझते तो उन कुत्तों के दरमियान हम सुलह सफाई का प्रयास जरूर करते और उनको समझाते कि रात के वक्त उन की भू-भू से हम इन्सानों की नींद का सत्यानाश हो जाता है। इस सिलसिले में अगर हम किसी तरह से पैसों का सौदा करते तो हम उनको देने के लिए खुद को राजी कर लेते। लेकिन अफसोस की हम उनकी जबान नहीं समझते। एक दिन हमने जब अपने एक भाषाविद् दोस्त से अपनी उस लाचारी और मजबूरी का जिक्र किया तो उन्होंने कहा कि जानवरों की जुबानों को न जानना हम इन्सानों के लिए खुदा की दी हुई एक बहुत बड़ी नेमत है। अगर हम इन्सान उन जानवरों की बातों की समझने की सलाहियत रखते तो हमारा जीना दूभर हो जाता। हमने यह सुनकर जब उनके उस सोच पर अपनी हैरत का इज़हार अपने चेहरे की शिकनों से किया तो मेरे फाज़िल दोस्त ने फरमाया कि सोचो कि किसी रोज सुबह तुम सजधज इन्तहाई खुशगवार मूड में ऑफिस के लिए निकले। सामने दीवार पर बैठे कौवे ने कुछ इस तरह से तुम पर फबती कसी : ओए स्मार्ट; कहा चले वह तो आज आयेगी ही नहीं जिसके लिए इतनी तराश-खराश की है। यह सुनकर आपका पारा यकीनन चढ़ जायेगा और आप उसे मारने के लिए लपकेंगे। आप के उस तैश और झुंझलाहट को देखकर वह तरह-तरह के भद्दे शब्दों से आपको नवाज़ कर उड़ जायेगा और आप दांत पीसकर रह जायेंगे।

अच्छा हुआ कि इस संगीन सूरतहाल से खुदा ने हमें महफूज़ रखा हम उसके लाख-लाख शुक्रगुजार हैं। यह अच्छा हुआ कि हम इन्सानों को जानवरों खासतौर से कुत्तों कि जुबान नहीं आती। अगर उनको समझते तो हम हमेशा किसी न किसी तरह की ज़हनी तनाव में रहते। हम में से शायद ही कोई इन्सान ऐसा हो जिस पर कभी किसी कुत्ते ने न भौका हो। यह भौंकना जाहिर है कि उनमें अच्छे शब्द हरगिज नहीं होते होंगे। अगर उनके शब्द अच्छे होते हो तो यकीनन उसका असर आप पर सिर्फ उसी सूरत में होता होगा जब आप उसे समझेंगे। आपने अगर उसे समझा ही नहीं तो उसका असर आप पर क्या खाक होगा? हमारे लिए ये बड़ी राहत की बात है कि जो हम उन जानवरों की जबान नहीं समझते। इसी लिए हमें यह बिल्कुल खबर नहीं है कि यह कुत्ते आपस में लड़ते समय किस तरह के शब्दों का इस्तेमाल करतें है। हमे यह भी पता नहीं है कि इनके बीच किस तरह की दुविधा होती होगी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या साहित्यिक मूल्यबोधों की। लेकिन हमें यह लगता है कि उनके दरमियान सबसे बड़ा मुद्दा सरहदी सीमाओं का है क्योंकि हमने अक्सर यह देखा है कि जब कोई कुत्ता दूसरे कुत्तों के इलाकों में प्रवेश करता है तो वो कुत्ते उस पर टूट पड़ते है। अगर उनके बीच लड़ाई की यही वजह है

तो हम मुहल्ला सुधार कमेटी के उन जिम्मेदारों से पुरज़ोर दरख्वास्त करें कि उन कुत्तों के सरहदी दुविधाओं को खत्म करने के लिए उनके इलाकों की जल्द-से-जल्द हदबन्दी कर दें ताकि आए दिन जिस वजह से हमारी नींदें खराब होती हैं हम उनसे बच जायेंगे।

कमेटी को दरख्वास्त देने से पहले हमने उस प्रस्ताव के बारे में कुछ दोस्तों से सलाह मशविरा किया तो सभी ने उसमें अपनी असहमती जताई। इस सिलसिले में उनका कहना था कि लड़ाई झगड़ों कि असल वजह सरहदें नहीं होती हैं उसकी ताजा मिसाल पश्चिम एशियाई देश हैं। इराक, अफगानिस्तान, यमन, इरान आखिर इनमें से किस की सरहदें अमरीका से मिलती हैं। इन दोस्तों का इस सिलसिले में यह भी कहना था कि जैसे पीने वाले पीने का वैसे लड़ने वाले लड़ने का बहाना ढूंढ लेते हैं। उनका ख्याल था कि लड़ाई झगड़ों की बुनियादी वजहों में खुदगरज़ी, धार्मिक और विचारधारात्मक अन्तर्विरोधों की अहम भूमिका होती है।

दोस्तों के इस ख्याल से यह बात तकरीबन साफ हो गयी कि हमारे इलाके के कुत्तों के बीच विवाद की वजह किसी हदबन्दी का होना या न होना नहीं है बल्कि इनके लड़ाई भिड़ाई की असल वजह उनमें पाये जाने वाले मानसिकता का है। इस मानसिकता का सम्बन्ध किसी भी राजनीतिक, धार्मिक माशरतों से हो सकता है। यह राज जानने के बाद न जाने दिल में क्यों ये ख्वाहिश जागी है कि काश हमें उन कुत्तों की ज़बान आती तो हम उनके बीच हर दिन होने वाले झगड़ों की वजह का पता लगाते और उन वजहों को जानने के बाद उनके दरमियान सुलह व सफाई की पूरी-पूरी कोशिश करते। अगर कोई राजनीतिक अड़चनें होतीं तो उसको दूर करने के लिए किसी जानकार राजनीतिज्ञ का सहारा लेते। अगर कोई धार्मिक विवाद होता तो उसके लिए किसी धर्मगुरुओं से सलाह मशविरा करते। मुमकिन है कि हमारी उस तरह की कोशिश हमें किसी बड़े इनाम के काबिल बनाती। लेकिन इस ख्वाहिश का क्या मतलब जब हम उन कुत्तों के बीच होने वाली टकराव को समझ ही नहीं सकते बल्कि वो जैसे भौकतें है उन्हें भौकने दें। एक दूसरे के खिलाफ जैसे ये लड़ते है लड़ने दें। हर दिन उनके दरमियान होने वाले लड़ाई झगड़ों को बड़ा होने दें। उनके निपटारे की कोई कोशिश न करें। क्योंकि उस तरह की हर कोशिश का नतीजा बुरा ही है। वैसे उस तरह की कोशिश अगर हम इन्सानों के लिए करें जिनकी जुबान हम समझते हैं तो उसका अन्जाम भी नकाम ही होगा। इस समाज में सदियों से हो रहे लड़ाई झगड़ों और फसाद के खिलाफ जिन विद्वानों ने यहां तक कि खुदा के पैगम्बर ने भी दुनिया में अमन चैन लाने के लिए जितनी भी कोशिशें की हैं इसका नतीजा हमेशा से शुन्य ही रहा है। इसीलिए अल्लाम-ए-एकबाल को कहना पड़ा :

सतीज़ाह कार रहा है अज़ल से ताइमरोज़
चरागे मुसतफवी से शरारे बूं लहबी।

अर्थात, बुराई और अच्छाई की लड़ाई हमेशा से ही रही है चाहे वह लड़ाई मुहम्मद साहब उनके जानी दुश्मन अबुल वहद के ही दरमियान क्यों न हो।

बहरहाल हर तारीकी में उजाले की जोत होती है। अंग्रेजी में इसी मतलब की अदायगी के लिए कहते हैं कि हर स्याह बादल में एक रूपहली लहर छिपी होती है और उम्मीद की एक किरण होती है। कोई न कोई साकारात्मक पहलू जरूर होता है। कुत्तों से सम्बन्धित उस पहलू की जाँच पड़ताल हमने कई बार किया है और वह इस तरह की हमारे इलाके के यह सारे कुत्ते अपनी तमाम खराबियों के बावजूद अपनी हरकतों से हम इनसानों को सोचने पर मजबूर कर देते हैं जैसे मिसाल के तौर पर हमने देखा कि उन कुत्तों को पकड़ने के लिए म्यूनिसिपैलिटी की कुत्ता गाड़ी जैसे ही हमारे इलाके मे दाखिल होती है यह सारे कुत्ते अपने तमाम सरहदी, साम्प्रदायिक, अन्तर्जातीय मतभेदों को बगल में रखकर तथाकथित गाड़ी के खिलाफ इकट्ठा हो जाते है। वह एक आवाज़ कुत्ता गाड़ी पर सवार लोगों के खिलाफ भौकना शुरू कर देते हैं। खुदा ही जानता है कि वह इस मौके पर किस तरह के गाली गलौच का सहारा लेते होंगे अल्लाह का ये बड़ा करम है कि हम उसको समझते ही नहीं हैं। वैसे हमें यकीन है कि यह कुत्ते गाड़ी वालों के बहाने हम तमाम इन्सानों के लिए बड़े-बड़े और घिनौने शब्दों का इस्तेमाल करते होंगे। वह यकीनन कहते होंगे कि उनको पकड़ने वाली यह गाड़ी जरूर मुहल्ले वालों के शिकायत पर आती है। खुदा जाने इस सिलसिले में वह हम मुहल्ले वालों को किस-किस तरह के भद्दे शब्दों का इस्तेमाल करते होंगे ।

अब चूंकि उनकी उस बेनुकत को हम समझते नहीं इसलिए इससे हमें कोई सरोकार नहीं है हमें तो इनकी एकता पर रश्क आता है जब वह एकजुट होकर अपने बीच उन तमाम लड़ाई झगड़ो को ताक पर रखकर एक प्लेटफार्म पर इकट्ठा हो जाते है और उनको पकड़ने वाली गाड़ी उनके दरमियान पाये जाने वाले मतभेदों और पूर्वाग्रहों को मिटा देती है। वह यह भूल जाते हैं कि वह कभी एक दूसरे के जानी दुश्मन भी थे। एक दूसरे को अपने-अपने इलाकों में देखना भी पसन्द नहीं करते थे। कह सकते हैं कि यह गाड़ी उनके अन्दर प्यार और सौहार्द को सुर फूंक देती है। उनके बीच मौजूद दरारों को भी भर देती है। इन सब बातों को देखकर न जाने क्यों हमारे दिलो-दिमाग में यह ख्याल जनम लेने लगता है कि ऐ काश हम इन्सानों के लिए कोई ऐसी गाड़ी आ जाती जिसे देखकर हम इन्सान अपने बीच पाये जाने वाले सारे इलाकाई, कौमी, सामाजिक, राजनीतिक, सरहदी या भौगोलिक मतभेदों को भूल जाते और इन्सानियत के दुश्मनों का मिलकर मुकाबला करते। लेकिन न जाने ऐसी कितनी आरजुएं है जो कभी मुकम्मल ही नहीं हो सकती।

जेएनयू की राजनीतिक संस्कृति हमें हमेशा आजादी के सपनों को याद दिलाती रही है

सच्चिदानन्द सिन्हा

प्रो. सच्चिदानन्द सिन्हा, जेएनयू के सामाजिक विज्ञान संस्थान में प्रोफेसर हैं। सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों में उनकी छात्र जीवन से ही दिलचस्पी रही है। यहाँ प्रस्तुत हैं, जेएनयू की संस्कृति पर प्रदीप कुमार की बातचीत पर आधारित उनके विचार।

मैं 1977 में जेएनयू आया। दरअसल तब तक जेएनयू की स्थापना के दस साल भी नहीं हुए थे। सन् 1969 में इसकी स्थापना हुई थी। पहला बैच 71 में लिया गया था। इसलिए उस समय इसकी ज्यादा प्रतिष्ठा न थी। 5-6 साल में कितनी बड़ी प्रतिष्ठा हो सकती है। बस मेरे एक शिक्षक ने बताया था कि जेएनयू एक नया विश्वविद्यालय है जहाँ नए तरीके से उच्च शिक्षा को देखने की कोशिश हो रही है। इसके अलावा मुझे जेएनयू के बारे में कुछ जानकारी नहीं थी। दरअसल जब हम बी.ए., एम.ए. कर लेते हैं तो आगे की पढ़ाई के लिए कुछ अच्छे विश्वविद्यालयों में प्रवेश की संभावना तलाशते हैं। हर जगह अप्लाई करते हैं। इसी तरह मैंने जेएनयू में अप्लाई किया था। और मुझे यहाँ प्रवेश मिल गया तो मैं इसका हिस्सा बन गया। मैं 1977 से 84 तक छात्र के रूप में यहाँ रहा और एम.ए./एम.फिल./पीएच.डी. की पढ़ाई पूरी की। फिर 1988 में शिक्षक के रूप में यहाँ आया और तब से यहीं अध्ययन-अध्यापन कर रहा हूँ। चार साल मैं दूसरी जगह पढ़ा रहा था लेकिन इस दौरान भी हर शनिवार और रविवार यहाँ के पुस्तकालय में हीं गुजरता था।

सन् 1977 में छात्र के रूप में मेरे आने के समय जेएनयू का राजनीतिक माहौल मेरे लिए आश्चर्यजनक नहीं था क्योंकि उससे एक-दो साल पहले से देश भर में आपातकाल विरोधी आन्दोलन चल रहे थे। मेरे गृहराज्य बिहार में भी छात्र आन्दोलन छिड़ा हुआ था। इस तरह से पूरे माहौल में ही राजनीतिक सक्रियता और गतिविधियाँ व्याप्त थीं। परन्तु, अगर आपातकाल को हटा दें तो उस समय बिहार में छात्र आन्दोलन के मुख्य मुद्दे थे कि भाई परीक्षा का डेट बढ़ा दो, अंग्रेजी को अनिवार्य मत करो। परन्तु, यहाँ आने पर हमने देखा कि यहाँ के छात्रों की राजनीतिक गतिविधि अपने मुद्दों के साथ-साथ देश और दुनिया के मुद्दों से जुड़ी थी। इसमें केवल मुद्दा ही उठाने की बात न थी बल्कि उसकी जो प्रक्रिया थी उसने भी मुझे बहुत प्रभावित किया। प्रक्रिया यह थी कि छात्र चाहे किसी पार्टी के हों या न हों, वे हमेशा हफ्ते में दो-तीन बार किसी न किसी मेस में किसी न किसी सामयिक-तात्कालिक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों और विषयों पर विमर्श में शामिल होते थे। इसमें कभी बाहर के नेता, विद्वान, विषय विशेषज्ञ तो कभी हमारे शिक्षक तो कभी हमारे छात्र नेता आकर बोलते थे। इसके अलावा भिन्न-भिन्न मुद्दों पर अलग-अलग राजनीतिक पार्टियाँ अपना पर्चा निकालती थीं। हालाँकि ये परंपरा अभी भी चल रही है। परन्तु शायद अब पर्चों के दस्तावेजीकरण का काम नहीं होता। मुद्दे हमेशा जमीन से उठते थे, चाहे वे ऊपर से इंट्रोड्यूस किया जाए। लेकिन हाँ उन सब पर विमर्श होता था। बातचीत होती थी। उससे बहुत सारे लोग जो जिस भी बहुत सारी मुद्दों से वाकिफ नहीं होते थे, उनको इससे जानकारी मिल जाती थी। इस सब कवायादत के पीछे एक ही उद्देश्य होता था - समाज को बेहतर बदलाव की ओर ले जाना। इसके लिए हम इंदिरा गाँधी के विरोध में खड़े होते थे। जनता पार्टी की सरकार आई तो उनकी जनविरोधी नीति के खिलाफ भी खड़े हुए। वास्तव में मुद्दे महत्वपूर्ण थे, सरकार और राजनीतिक पार्टियाँ नहीं। हमारा मानना था कि व्यवस्था और शासन में सभी वर्ग-जाति का प्रतिनिधित्व हो। देश की मूलभूत समस्याओं पर बातचीत हो। उसपर नीतियाँ बनें। व्यवस्था को और भी ज्यादा पारदर्शी बनाया जाए। गरीबी, भ्रष्टाचार, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों आदि पर भी विचार होता था। स्थिति के सुधार के लिए हमारे हाथ में तो कुछ था नहीं फिर भी हमलोग कोशिश करते थे। उस समय केवल चौदह-पन्द्रह सौ छात्र थे। इतनी कम संख्या में क्या कर लेते। फिर भी हमलोग देश-दुनिया के हर मुद्दे पर शामिल रहते थे। समय-समय पर अपना प्रतिरोध जताते रहते थे। हालाँकि देश के अन्य विश्वविद्यालयों में ऐसा नहीं होता था। परन्तु हम पढ़ाई के साथ-साथ इसे भी अपनी जिम्मेदारी मानते थे। हमारा मानना था कि हम युवा अगर इन समस्याओं और मुद्दों पर बात नहीं करेंगे तो कौन करेगा। हमारी इसी राजनीतिक सक्रियता और संवेदनशीलता का परिणाम था कि उस जमाने में दिल्ली आने वाले लगभग सभी देशी-विदेशी नेताओं की जेएनयू में बोलने और यहाँ के छात्रों से संवाद की इच्छा रहती थी। और जब कभी ऐसी बातचीत आयोजित होती थी तो हम उसमें बड़े उत्साह से भाग लेते। हमारे सवालों से वक्ताओं के माथे पर पसीना आ जाता था क्योंकि हम विषय की काफी कुछ जानकारी और समझ के साथ बातचीत में हिस्सा लेते थे। आज की तरह ही। उस समय भी ज्यादातर लोग जेएनयू में आईएएस बनने का सपना लिए आते थे, परन्तु यहाँ के राजनीतिक और शैक्षणिक संस्कृति की बात ही कुछ ऐसी थी कि वे अध्ययन-अध्यापन, शोध, विचार-विमर्श और समाज को बदलने के संघर्ष के सपनों को अपने दिल में बसा लेते थे। यहाँ के माहौल में हमेशा से एक अलग तरह कि संवेदनशीलता रही है। जेएनयू में हमेशा से ही समाज के वंचित लोगों को प्रवेश में प्राथमिकता दी गई है। उनके हित के लिए प्रयास और आन्दोलन किए गए हैं। आज भी कमोबेश यही स्थिति है। इस तरह कहा जा सकता है कि जेएनयू के, राजनितिक संस्कृति में

तो अच्छा बहुत कुछ है पर मुझे लगता है कि यहाँ आने वाले ज्यादातर छात्र अपने जीवन के ऐसे पड़ाव पर यहाँ आते हैं, जब उनपर आर्थिक और पारिवारिक जिम्मेदारियों का बोझ पड़ने लगती है और ऐसे समय में यहाँ आकर समाज को बदलने के लिए संघर्ष का एक लम्बा रास्ता चुनना एक कठिन निर्णय होता है। ऐसे में मुझे लगता है कि ख्वाब के साथ-साथ अगर जीवन और ज़मीनी सच्चाई को ध्यान में रखा जाए तो बेहतर हो। इसमें जेएनयू कि राजनीति का दोष नहीं बल्कि हम भावनाओं में ही इतना बह जाते हैं कि जमीन से ऊपर उठे सोच को तवज्जो मिल जाती है। ख्वाब को हकीकत मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यह उस व्यक्ति विशेष के लिए ज्यादा नुकसानदेह हो जाता है।

जिस तरह विगत कुछ वर्षों में जेएनयू में जाति और संभवतः धर्म के आधार पर राजनीतिक संगठन बने हैं, उससे मुझे लगता है कि इसके पीछे उन लोगों के नेतृत्व में जिस पर कि हमेशा से उच्च जाति के लोगों का प्रभुत्व रहा है सहभागिता न देना महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। इस असंतोष के वाबजूद मैं कहूँगा कि जाति और धर्म जैसे संकीर्ण मुद्दे के बजाय विचारधारा और राजनीतिक सिद्धांत के आधार पर राजनीतिक संगठन बनने चाहिए। अगर जाति और धर्म हमारे राजनीति की दिशा तय करने लगे तो मुझे लगता है कि यह जेएनयू के राजनीतिक संस्कृति के लिए बहुत दुर्भाग्यपूर्ण होगा। ऐसा हमारे समय में नहीं था। हालाँकि ये बदलाव 1990 के समय से ही शुरू हो गया था। मंडल कमीशन के बाद जेएनयू में जाति के आधार पर सवर्णों की एक संस्था बनी थी जो बाद में 'यूथ फॉर एक्वलिटी' कहलाई। हमारे समय में मुख्य रूप से चार पार्टियाँ थी एसएफआई, एआईएसएफ, फ्री थिंकर (ये लोग किसी पार्टी से नहीं जुड़े थे, अपने आप को फ्री थिंकर मानते थे, जिसमें हर तरह के धुर दक्षिणपंथी से धुर वामपंथी तक और न जाने किस-किस विचारधारा के लोग थे), और आपातकाल के समय एक पार्टी आई - *'छात्र युवजन सभा'* यह सैद्धांतिक रूप से समाजवादियों की पार्टी थी।

मुझे लगता है कि सभी विश्वविद्यालयों में बोलने और लिखने-पढ़ने के लिए अनुकूल और स्वतंत्र वातावरण होना चाहिए। ऐसा माहौल जिसमे सभी लोग अपनी बात कह सकें। विरोध कि राजनीति का अपना महत्त्व है पर किसी को सुनना और किसी को नहीं सुनना या जेएनयू परिसर में न घुसने देने कि बात करना लोकतंत्र का गला घोटने के समान है। हम सबको सुनें। ट्रम्प भी आकर बोलना चाहें तो उनका भी स्वागत हो। लेकिन जो भी बोलना चाहें उनको हमारे सवालों का जवाब भी देने के लिए तैयार होना चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता है कि आप बोलें और चुपचाप हमारे सवालों का जवाब दिए बिना निकल जाएँ। हमसे विमर्श और संवाद कीजिये। लेकिन मुझे लगता है कि पहले के मुकाबले अब मुद्दों पर बहस और विमर्श की संभावना कम होती जा रही है। हम तात्कालिक और छोटे छोटे मुद्दे उठाने लगे हैं। ऐसा इसलिए हुआ है कि हम चीजों को विभाजित नजरिए से देख रहे हैं। एक समग्र दृष्टि से नहीं देख पा रहे। बड़े मुद्दों पर पर्चे निकलने भी कम होते जा रहे हैं। लोग निकलने वाले पर्चो को भी अब कम ही पढ़ते हैं। कहीं न कहीं इस स्थिति में सुधार होना चाहिए। हम छोटे छोटे इश्यूज में बहुत समय जाया करते हैं। मसला छोटे इश्यूज का नहीं है बल्कि यह है कि हमने उसको बड़े परिप्रेक्ष्य में देखना और समझना छोड़ दिया है। और जब तक व्यापकता नहीं होगी, हम तुच्छ चीजों पर आपस में हीं लड़ते रहेंगे। और हमारा विरोधी मजे करता रहेगा।

जेएनयू में कभी भी कुछ बलात करने की परंपरा नहीं रही है। परन्तु सरकार के तरफ से किसी भी स्तर पर जो हस्तक्षेप हो रहा है, वो तो हमेशा से ही अपने अपने समय में अलग अलग सरकारें करती रही हैं। और इसपर मुझे कोई आपत्ति भी नहीं है। परन्तु अभी जो पिछले आठ-दस महीने से हो रहा है, उसमें पूरी कोशिश है कि विश्वविद्यालय के मूल स्वरूप को बदल दिया जाए। इस विश्वविद्यालय के उद्देश्य को हराने की कोशिश है। लेकिन मुझे नहीं लगता कि यह ज्यादा सफल होगा। अगर एक पंक्ति में परिभाषित करना हो तो मैं कहूँगा कि बेहतर बदलाव की आकांक्षा ही हमेशा से जेएनयू की राजनीतिक संस्कृति के केंद्र में रही है। और यह किसी भी तरह के वर्चस्व के खिलाफ है।

मेरी नजर में जेएनयू कभी एक अलग द्वीप नहीं रहा है, जैसा कि बाहर के ज्यादातर लोग मानते रहे हैं। सिर्फ इतना ही है कि यह समाज से अलग हटकर सोचता है। और फिर यह काम तो दुनियाभर की यूनिवर्सिटियाँ भी करती हैं। युनिवर्सिटियों का काम ही है समाज के विकास के लिए नए रास्ते की तलाश की कोशिश में लगे रहना। समाज के कल के बारे में सोचना। जेएनयू की राजनीतिक संस्कृति समाज और देश की राजनीति के सामने एक मशाल का काम करता है क्योंकि यही एकमात्र यूनिवर्सिटी है जहाँ व्यावहारिक रूप से आदर्श चुनाव आचार संहिता का पालन करते हुए चुनाव होते हैं। धन-बल के बजाय चुनाव मुद्दों, सिद्धांतों और विचारधारा के आधार पर लड़े जाते हैं। मैं तो ये कहूँगा कि जब हम आजाद हुए तो हमने अपने लिए क्या लक्ष्य रखे? यही न कि हम अपने देश को बदलेंगे। यहाँ पर समानता, स्वतंत्रता और न्याय का भाव लायेंगे। अगड़े-पिछड़े सबको उसका हक दिलाएंगे। सत्ता, शासन और अन्य सभी गतिविधियों में सबको सामान रूप से सहभागी होने का अवसर देंगे। देश की विविधता की रक्षा करेंगे। सबको अपने तरह से जीने और बोलने की आजादी होगी। अगर देश के किसी विश्वविद्यालय ने हमारी आजादी के इन सपनों को लगातार जिंदा रखा है और उसके पूरे होने के लिए लड़ाई लड़ी है तो उसमें पहला नाम जेएनयू का है। अतः हम कह सकते हैं कि जेएनयू की राजनीतिक संस्कृति हमें हमेशा आजादी के सपनों को याद दिलाती रही है, और आगाह करती रही है कि हमें अभी और कितना लम्बा सफर तय करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन

संयोजन : प्रो. संजय कुमार पाण्डेय और सुमित कुमार मौर्य

आज के वैश्वीकरण युग में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं, संवादों का अध्ययन तथा उनके प्रभावों का विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक हो गया है। इसी परिप्रेक्ष्य में 1955 में दिल्ली में अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान की स्थापना की गई जोकि 1970 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय का एक अहम केन्द्र बना। अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन से छात्रों को परिचित कराने तथा इस क्षेत्र में शोधकार्य को बढ़ावा देने के लिए इस केन्द्र की महत्वपूर्ण आवश्यकता थी। आज इस संस्थान में विश्व के प्रत्येक देश जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करते हैं पर अध्ययन-अध्यापन तथा शोधकार्य हो रहे हैं। इस संस्थान में एम.ए., एम.फिल. तथा पीएच.डी. की डिग्री के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन के समग्र क्षेत्रों को समाहित करते हुए पढ़ाई कराई जाती है। यहाँ के विद्यार्थी देश विदेश के महत्वपूर्ण व प्रतिष्ठित संस्थानों में कार्य कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन के क्षेत्र में यह संस्थान भारत में उच्च स्थान बनाए हुए है।

इस संस्थान के पठन-पाठन को लेकर पिछले दिनों हमने एक परिसंवाद रखा, जिसमें यहाँ के अध्यापकों प्रो. मनोजपंत, प्रो. अजय पटनायक, प्रो. एस.एन. मालाकार, प्रो. जी.वी.सी. नायडू, प्रो. अश्विनी महापात्र, प्रो. संजय भारद्वाज, प्रो. संगीता थपलियाल और प्रो. फूलबदन से तीन प्रश्न पूछे गये -

***1.** संस्थान का पाठ्यक्रम कैसा है तथा उस विषय में आपकी क्या राय है?*

***2.** पाठ्यक्रम में किस प्रकार के सुधार की संभावना है?*

***3.** भविष्य का पाठ्यक्रम कैसा होगा?*

*प्रस्तुत है उनके विचार। **जेएनयू परिसर** के लिए इस परिसंवाद का संयोजन किया है प्रो. संजय कुमार पाण्डेय और संस्थान के शो धार्थी सुमित कुमार मौर्य ने।*

प्रो. मनोज पंत

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विकास केन्द्र

(1) जहाँ तक पाठ्यक्रम की बात है तो पाठ्यक्रम समयानुरूप है। हमने पिछले वर्ष से अपने यहाँ एम.ए. प्रोग्राम भी शुरू किया है। पाठ्यक्रम बोर्ड ऑफ स्टडीज में अनुमोदित होते हैं साथ ही शिक्षकों को पाठ्यक्रम बनाने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है।

(2) केन्द्र में कार्यरत शिक्षकों से समय-समय पर पाठ्यक्रम को लेकर प्रतिक्रिया लेते हैं, हम हर घटना या महत्वपूर्ण क्षेत्र को एक दूसरे से जोड़ कर देखने का प्रयास करते हैं। शिक्षकों की संख्या कम होने से कभी-कभी विषय को कवर करने में ज्यादा समय लग जाता है। स्कूल स्तर पर शोध पत्रिकाएं हैं पर केन्द्र स्तर पर ज्यादा शोध पत्रिकाएं नहीं हैं। छात्रों को भी अपने केन्द्र को पत्रिकाएं निकालने के लिए आग्रह करना चाहिए।

(3) छात्रों से शिक्षक फीडबैक लेते हैं और उसके अनुसार समय-समय पर पाठ्यक्रम में बदलाव करते हैं और आगे भी करते रहेंगे। आने वाले सालों में कोर्सेस बढ़ा सकते हैं पर केन्द्र बढ़ाने की कोई योजना नहीं है।

प्रो. एस.एन. मालाकार

अफ्रीकी अध्ययन केन्द्र

(1) पाठ्यक्रम पहले का बनाया हुआ है। साथ ही एम.ए. में वैकल्पिक कोर्स भी पढ़ाया जाता है। ये कोर्सेस बहुत ही प्रासंगिक हैं, इसमें अफ्रीका के हर पक्ष को पढ़ाया जाता है। सेंटर में अफ्रीका में होने वाले आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक विकास, दूसरे देशों से संवाद, भारत के अफ्रीका के साथ संबंध आदि के बारे में पढ़ाया जाता है। एम.फिल. में अफ्रीका में विचारधाराओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में उसके महत्व आदि को बताते हैं। अफ्रीका के उद्भव में किस तरह के परिचर्चाएं आयी हैं इन सबके बारे में भी बताया जाता है। विचारधाराओं की तुलना भी की जाती है। अफ्रीका के प्रत्येक देश और मुद्दों पर चर्चा होती है, साथ ही नये मुद्दों को पाठ्यक्रम में शामिल करते हैं।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर बहुत सी नई चीजें आती हैं। अफ्रीका में 54 देश हैं सभी के द्विपक्षीय, बहुपक्षीय तथा क्षेत्रीय संबंध है। इसलिए नई चीज देने की संभावना हमेशा बनी रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में अन्तर्विरोध को भी बताते हैं जिससे छात्रों को उससे अवगत कराया जा सके।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य बदलने से तथा भूमण्डलीकरण के कारण बहुत से क्षेत्रीय संगठन आ गये हैं। क्षेत्रीय संगठनों की वैश्विक संगठनों के साथ बातचीत की कई संभावनाएँ तलाशी जाएँगी। साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में परिवर्तन क्षेत्रीय आधार पर भी होता है। अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचे में परिवर्तन से अफ्रीका का महत्व बढ़ेगा। निगोसिएशन की ताकत बढ़ेगी। नए डिस्कोर्स के लिए अपार संभावनाएँ रहेंगी।

प्रो. अजय पटनायक
रूसी और मध्य एशियाई अध्ययन केन्द्र

(1) केन्द्र में रीडिंग लिस्ट हमेशा अपडेट होती रहती है। समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। सेंटर में ज़्यादा फोकस राजनीति, विदेशनीति, सामाजिक दृष्टिकोण, आर्थिक तथा सुरक्षा मुद्दों पर रहता है। नये-नये दृष्टिकोणों को समय-समय पर छात्रों को बताया जाता है।

(2) नये मुद्दों में अभी ऊर्जा पर कार्य हो रहा है। इसे परिचर्चा में लाना चाहिए। साथ ही इसे मुख्य पाठ्यक्रम का भी हिस्सा होना चाहिए। केन्द्र स्तर पर नये मुद्दों पर चर्चाऐं होती रहनी चाहिए। सिर्फ नया कोर्स शुरू करना ही उद्देश्य नहीं होना चाहिए बल्कि उसके क्रियान्वयन पर भी उतना ही फोकस होना चाहिए।

(3) केन्द्र में लगभग सारे क्षेत्र कवर होते हैं। उस क्षेत्र में कुछ मुद्दों पर फोकस होना चाहिए जैसे संस्कृति, सुरक्षा, व्यापार, पर्यावरण, आतंकवाद इत्यादि।

प्रो. संजय भारद्वाज
दक्षिण एशियाई अध्ययन केन्द्र

(1) पाठ्यक्रम संतुलित है। इसमें दक्षिण एशिया की भू-स्थिति, संघर्ष, आंतरिक मुद्दे, राजनीति, दबाव समूह आदि पढ़ाते हैं साथ ही एम.ए. में भारत की विदेशनीति इत्यादि भी पढ़ाते हैं। केन्द्र में कोर्स शिक्षक अपना पाठ्यक्रम बनाते हैं तथा समय-समय पर उन्हें अपडेट करते रहते हैं।

(2) नई नीतियों को शामिल किया जाना चाहिए। डिजिटल इंडिया, मेकिंग इंडिया आदि को सम्मिलित करना चाहिए। कभी-कभी सरकार की शिक्षण क्षेत्र में क्या-क्या जरूरतें हैं ये पता नहीं है इसलिए इनके बीच दो-तरफा संबंध होना चाहिए।

(3) पाठ्यक्रम विषय वस्तु आधारित हो तथा प्रासंगिक मुद्दों को स्थापित सिद्धान्तों के साथ जोड़ा जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को भारतीय विदेश नीति के साथ कैसे जोड़ के देखा जाए ये छात्रों को बताना चाहिए। साथ ही तटस्थता को बनाए रखना भी आवश्यक है।

प्रो. जी.वी.सी. नायडू
भारत-हिन्द महासागरीय अध्ययन केन्द्र

(1) केन्द्र का पाठ्यक्रम ज्यादातर क्षेत्रों को कवर करता है। केन्द्र के पाठ्यक्रम में मुख्यतः आर्थिक और सुरक्षा के मुद्दे, इतिहास, दक्षिणी महासागरीय क्षेत्र तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया आदि कवर करते हैं। अपने कोर्स में मैं हर साल परिवर्तन करता हूँ तथा नये दृष्टिकोण को शामिल करता हूँ जिससे छात्रों को आधुनिकतम दृष्टिकोण प्रदान किया जा सके।

(2) पाठ्यक्रम में सुधार की संभावनाएं हमेशा बनी रहती हैं। शिक्षकों की संख्या कम होने से कभी-कभी थोड़ी परेशानी होती है। मैने अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान के लिए भारतीय महासागरीय अध्ययन का एक अलग केन्द्र शुरू करने का प्रस्ताव भी दिया है। ये बहुत वृहद क्षेत्र है और इस पूरे क्षेत्र पर अभी काम नहीं हो रहा है।

(3) भविष्य में छात्रों की माँग पर शिक्षकों के साथ मिलकर नये कोर्सेस शुरु करने की पहल हो सकती है। केन्द्र की अलग लाइब्रेरी के लिए भी कार्य करने की जरूरत है।

प्रो. संगीता थपलियाल
इनर एशियन अध्ययन केन्द्र

(1) हमारा अभी का पाठ्यक्रम वृहद क्षेत्र को कवर करता है। इसमें विदेशनीति, राजनीति, सरकार, सुरक्षा मुद्दे तथा आर्थिक मुद्दों आदि पर फोकस किया जाता है। केन्द्र का यूजीसी एरिया स्टडीज प्रोग्राम चलता है जिसमें हम अपने छात्रों को परिचर्चा के लिए भेजते हैं। छात्र पैनल डिशकशन (परिचर्चा) में भाग लेते हैं और विशेषज्ञ उस पर अपने कॅमेंट देते हैं। केन्द्र का अपना फेसबुक पेज है। हमारा केन्द्र अकादमिक गतिविधियों को सहयोग देता है।

(2) सुधार की संभावना तो हमेशा होती है। कुछ पेपर सेंट्रल एशिया, इनर एशिया से संबंधित हैं उनमें अभी संभावनाएँ हैं। समय-समय पर पाठ्यक्रम का संशोधन होते रहना चाहिए।

केन्द्र ने एम.ए. क्षेत्रीय अध्ययन में 2 कोर्स प्रस्तुत किया है तथा मुख्य कोर्स में हमारे 2 शिक्षक पढ़ा रहे हैं।

(3) अभी हम ट्रांस हिमालयन कोर्सेस नहीं पढ़ा पा रहे हैं। पूरे क्षेत्र को एक साथ नहीं पढ़ा पा रहे हैं। इन्हें शिक्षकों के साथ मिलकर सम्मिलित करना है। विशेषज्ञ शिक्षकों के सेंटर में आने पर इन कोर्सेस को शुरू किया जाएगा।

साथ ही साथ छात्रों के लिए केन्द्र पुस्तकालय की दिशा में भी कार्य करने का प्रयास रहेगा।

प्रो. फूलबदन
रूसी और मध्य एशियाई अध्ययन केन्द्र

(1) वर्तमान का पाठ्यक्रम प्रासंगिक है। करीब 15 वर्ष पहले मैं सेंटर से जुड़ा। तब सेंटर की एक कमेटी थी उस कमेटी में बहुत ही बड़े स्तर पर परिवर्तन हुए थे। कुछ पुराने कोर्स हटा दिये गये, कुछ में सुधार किये गये। धीरे-धीरे इनमें परिवर्तन होते रहते हैं। सेंटर का फोकस राजनीतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक, सुरक्षा संबंधी आदि मुद्दों पर रहता है। मैं एरिया (Area) स्टडीज में होने के कारण क्षेत्रीय विकास से संबंधित विषयवस्तु को पढ़ाता हूँ।

(2) पाठ्यक्रम में सुधार की संभावना हमेशा रहती है। कोर्स की मांग पूरी हो रही है कि नहीं, कोई नई विषयवस्तु छूट तो

नहीं रही, इन सबके लिए कमेटी की जरूरत है। हम सेंटर में इतिहास भी पढ़ाते हैं पर इतिहास का अलग से कोई कोर्स नहीं है, इसे शामिल करने की जरूरत है। अभी सेंटर में पाठ्यक्रम में बदलाव लाने, सुधार के लिए तथा नये कोर्स शुरू करने के लिए एक कमेटी बनी है। साथ ही साथ इसका काम नये पाठ्यक्रम क्षेत्र की खोज करना भी होगा।

(3) कुछ नये पाठ्यक्रम शुरू होने चाहिए और वर्तमान पाठ्यक्रम में परिवर्तन भी किया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम में ज्यादा-से-ज्यादा विषयवस्तु उपलब्ध कराने की कोशिश की जाती है। जेन्डर, सिविल सोसायटी, ऊर्जा, इतिहास, मानव अधिकार, भू-राजनीति, सुरक्षा के नये कोर्सेस होने चाहिए।

प्रो. अश्विनी महापात्र
पश्चिमी एशियाई अध्ययन केन्द्र

(1) केन्द्र में सारे मुद्दों पर शोध होता है। पाठ्यक्रम विषयवस्तु अपडेट होते रहते हैं। वृहद स्तर पर 3-4 साल बाद अपडेट होता है और नए विषयों पर पठन सामग्री छात्रों को उपलब्ध करा दी जाती है। हम छात्रों को विषय का वृहद स्वरूप देने के हिसाब से पढ़ाते हैं। कोई भी कोर्स शुरू करने से पहले सेमिनार प्रस्तुत होता है उसके बाद फिर बोर्ड मीटिंग में वह जाता है।

(2) पाठ्यक्रम हमेशा दक्षता तथा पाठ्यक्रम दिशानिर्देशक के ज्ञान के अनुसार होना चाहिए। साथ ही पाठ्यक्रम वृहद तथा विविधतापूर्ण हो।

पाठ्यक्रम विषयवस्तु की हर 5 साल में समीक्षा होना चाहिए जिसमें पाठ्यक्रम विषयवस्तु तथा संदर्भ दोनों शामिल हो। साथ ही साथ रीजन (क्षेत्र) और कॉन्सेप्ट पर ज्यादा फोकस हो।

(3) पाठ्यक्रम में परिवर्तन पाठ्यक्रम दिशानिर्देशक के सुझाव पर आधारित होता है। सामान्यतया सांस्कृतिक पक्ष का पाठ्यक्रम में अभाव है, भविष्य में संस्कृति संबंधित विषयवस्तु पाठ्यक्रम में शामिल हो।

निष्कर्ष :

विभिन्न शिक्षकों जिनका कि मुख्य विषय अलग-अलग है और सभी इसी स्कूल से जुड़े हैं के बीच अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान के सेन्टर्स के पाठ्यक्रम को लेकर कुछ बिन्दुओं पर वैचारिक सहमति दिखती है। चाहे वह पाठ्यक्रम के निश्चित समय अंतराल पर परिवर्तन की बात हो या फिर नए पाठ्यक्रमों को शुरू करने की। सभी केन्द्र अपने-अपने क्षेत्र में छात्रों को प्रासंगिक अध्ययन सामग्री प्रदान करने का प्रयास करते हैं। इस परिसंवाद में कुछ नये क्षेत्रों की भी पहचान हुई जिन पर केन्द्र भविष्य में कार्य शुरू करेंगे। पाठ्यक्रम की दृष्टि से ये सभी केन्द्र छात्रों को समय के हिसाब से अध्ययन सामग्री उपलब्ध कराने के लिए प्रयासरत है तथा नए-नए क्षेत्रों में शोध कार्य व नए कोर्स शुरू करने के लिए भी प्रयत्नशील है। अपनी इन्हीं समयानुरूप पाठ्यक्रम के कारण ये केन्द्र भारत में अपना उच्च स्थान बनाये हुए हैं तथा निरन्तर छात्रों की आवश्यकतानुसार शिक्षण व शोधकार्य में अग्रसर है।

अभ्युदय सिंह, (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

हिंदी दिवस (14 सितंबर) पर विशेष

भाषाओं को बचाना ऐतिहासिक जरूरत

गंगा सहाय मीणा

डॉ. गंगा सहाय मीणा, भारतीय भाषा केन्द्र में हिंदी अनुवाद के प्राध्यापक और आदिवासी साहित्य के विद्वान हैं। हिंदी दिवस के अवसर पर प्रस्तुत है, उनके भाषा संबंधी चिन्तन पर एक महत्त्वपूर्ण लेख।

कुछ समय पहले वड़ोदरा के भाषा रिसर्च एंड पब्लिकेशन सेंटर के सर्वे के जरिए यह चिंताजनक खुलासा हुआ कि पिछले पांच दशक में भारत में बोली जाने वाली 220 से अधिक भाषाएं गायब हो गई हैं। भारतीय संविधान द्वारा उपेक्षित भाषाओं के दस्तावेजीकरण और संरक्षण के उद्देश्य से 1996 में भाषा ट्रस्टल की स्थापना हुई और धीरे-धीरे इसका दायरा बढ़ता चला गया। सेंटर द्वारा किये गए खुलासे के मुताबिक 1961 की जनगणना के अनुसार भारत में 1100 से अधिक भाषाएं थीं, जिनकी संख्या अब 880 से भी कम रह गई हैं। सेंटर द्वारा प्रस्तुत किये गए आंकड़े बेहद चिंताजनक हैं। यह अचानक नहीं हुआ और न ही यह सिलसिला थमा है। यूनेस्को ने खतरे की स्थिति वाली दुनियाभर की भाषाओं का एक इंटरेक्टिव एटलस बनाया है। इसके अुनसार दुनिया की लगभग 6 हजार भाषाओं में से 2471 खतरे में हैं। खतरे की स्थिति वाली भाषाओं को पांच भागों में बांटा गया है - 1। लोप होने का खतरा है, 2। लोप होने का गंभीर खतरा है, 3। लोप होने का बहुत गंभीर खतरा है, 4। लुप्त होने वाली हैं और 5। लुप्तप हो चुकी है। इस मानचित्रवली के अनुसार भारत की कुल 197 भाषाएं खतरे की स्थिति में हैं। इनमें से 81 पर लुप्त होने का खतरा है, 63 पर लुप्त होने का गंभीर खतरा है, 6 बहुत गंभीर खतरे में हैं, 42 लुप्त प्रायः हैं और 5 भाषाएं हाल ही में लुप्त हो चुकी हैं।

यूनेस्को, की यह मानचित्रावली इंटरेक्टिव है और व्यवहार में भाषा की स्थिति बदलने के साथ इसमें भी भाषा का स्थान बदल जाता है। यूनेस्को ने निम्नकारकों द्वारा भाषाओं की स्थिति तय की है - पीढ़ी दर पीढ़ी संचार, बोलने वालों की गिनती, कुल आबादी में बोलने वालों का अनुपात, भाषाई प्रयोग के क्षेत्रों में प्रचलन, नए क्षेत्रों और संचार माध्यमों में स्वीकृति, भाषाई शिक्षा और साक्षरता के लिए सामग्री की उपलब्धता, सरकारों और विभिन्न संस्थाओं का भाषा के प्रति रवैया और नीतियां, भाषाई समूह की ओर से अपनी भाषा के प्रति रूख और दस्तावेजीकरण व उसकी गुणवत्ता। इनमें से हर कारक को ध्यान में रखते हुए गंभीर शोध और विश्लेषण के बाद मानचित्रावली में भाषा की स्थिति निर्धारित की गई है। भाषा रिसर्च एंड पब्लिकेशन सेंटर के आंकड़ों और यूनेस्को के आंकड़ों में एक स्तर पर बड़ी समानता है - भाषा सेंटर पिछले 5 दशकों की कहानी कह रहा है और यूनेस्को की मानचित्रावली अगले 5 दशकों की। मुमकिन है अगले 5 दशकों में इनसे भी अधिक भाषाएं लुप्त हो जाएं।

पहला सवाल यह है कि कौनसी भाषाएं खतरे में हैं और उनके खतरे में होने के क्या कारण हैं? पिछले पांच दशकों में जो भाषाएं लुप्त हुई हैं और अभी जो भाषाएं खतरे में हैं, उनमें से लगभग सभी का संबंध आदिवासी समुदायों से है। आजादी के बाद सबसे ज्यादा उपेक्षा के शिकार भी आदिवासी ही हैं। पौराणिक ग्रंथों में आदिवासियों को सही ढंग से चित्रित नहीं किया गया, स्वाधीनता आंदोलन के गैर-आदिवासियों द्वारा किये गए इतिहास-लेखन में आदिवासियों की भूमिका को सायास नगण्य करने की कोशिश हुई है तथा आजादी और उसके बाद के भारत में भी आदिवासियों को उनका बाजिव स्थान नहीं मिल पाया है। पौराणिक संदर्भों को एक पल के लिए छोड़ भी दें, स्वाधीनता आंदोलन का सबसे बड़ा झूठ उसके 1857 में शुरू होने का दावा है। 1857 से पहले अंग्रेजों से सीधे लोहा लेने की आदिवासियों के दर्जनों संदर्भ हैं जिसका एक अहम पड़ाव 1855 का महान संथाल हूल है। आदिवासी विद्रोहों का महत्व यह है कि ये ब्रिटिश साम्राज्यवाद के तो खिलाफ थे ही, भारतीय सामंतवाद के खिलाफ भी निर्णायक लड़ाई लड़ रहे थे जबकि कांग्रेस के नेतृत्व में चले राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन का सामंती और पूंजीवादी चरित्र किसी से छिपा हुआ नहीं है। इसके बाद जब देश आजाद हो रहा था और नया संविधान निर्मित होने की प्रक्रिया शुरू हुई, उस दौरान संविधान सभा के सदस्य जयपाल सिंह ने आदिवासी स्वायत्तता के सवाल के साथ तीन आदिवासी भाषाओं को 8वीं अनुसूची (तब अनुसूची 7 'क') में शामिल करने की मांग की - गोंडी, मुंडारी और उरांव या कुडुख। लेकिन जैसे आदिवासियों की अन्य मांगें नहीं मानी गई, वैसे ही उनकी ये मांग भी नहीं मानी गई। उपर्युक्त तीनों बड़ी आदिवासी भाषाएं हैं। इन भाषाओं को सम्मानजनक स्थान देने के बजाय हिंदी, अंग्रेजी, बांग्ला, उड़िया, मराठी आदि बड़ी भाषाओं ने इन्हें नुकसान पहुंचाने का काम किया है। इसके बावजूद अपनी समृद्ध साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपरा के द्वारा इन भाषाओं ने खुद को बचाये रखा है। जहां हिंदी ने 1971 से 2001 के बीच तीन दशकों में कुल 108 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की, वहीं गोंडी ने 60 प्रतिशत, मुंडारी ने 37 प्रतिशत और कुडुख ने 41 प्रतिशत बढ़ोतरी की। इस बीच में कई भाषाओं की वृद्धि दर शून्य से भी नीचे है यानी नकारात्मक। यह चिंताजनक है। यह दिलचस्प है कि गोंडी, मुंडारी और कुडुख जिस क्षेत्र की भाषा हैं, उसे 'हिंदी क्षेत्र' कहा जाता है और इस वजह से इन भाषाओं के अस्तित्व को गंभीर चुनौती पैदा हो गई है। बच्चों को जबरन हिंदी या अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा दी जा रही है जबकि शिक्षाशास्त्री और मनोविज्ञानी मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा की वकालत करते हैं। उल्लेखनीय है कि ये तीनों भाषाएं हिंदी से

भिन्न प्रकृति की हैं - यहां तक कि तीनों का संबंध भारतीय आर्यभाषा परिवार से भी नहीं है, जिससे कि हिंदी का है। गोंडी और कुडुख द्रविड़ भाषा परिवार की हैं और मुंडारी आस्ट्रो -एशियाटिक परिवार की।

देश में आज भी छह सौ से अधिक आदिवासी भाषाएं और संस्कृतियां हैं। लेकिन बड़े संघर्षों के बाद संविधान के 92वें संशोधन में मात्र संथाली और बोड़ो को संविधान में जगह मिल पाई है। और कई भाषाएं आठवीं अनुसूची में शामिल होने के लिए संघर्ष कर रही हैं। यहां यह देखना भी जरूरी है कि भाषाओं के लुप्ति होने के प्रति हमारी सरकारों का और हमारा नजरिया और रवैया क्या है? आजादी से पहले कांग्रेस के घोषणा-पत्र में मातृभाषाओं का सवाल शामिल था लेकिन आजादी और उसके बाद वह लगातार गायब होता चला गया। अन्य राजनीतिक दलों ने भी भाषा के मसले में कोई रुचि नहीं ली। कुछ सरकारों ने संस्कृत में रुचि ली लेकिन मातृभाषाओं में नहीं। आजादी के बाद के दो दशकों में मातृभाषाओं के लिए लड़ाई लड़ने की ऐतिहासिक जिम्मेदारी प्रख्यात समाजवादी चिंतक और राजनेता डॉ। राममनोहर लोहिया ने अपने कंधों पर ली और मातृभाषाओं की रक्षा के लिए पत्थर-जूते तक खाए। हालांकि वे भी अंग्रेजी के बरक्स केवल बड़ी भारतीय भाषाओं की लड़ाई लड़ रहे थे। शुरू से मातृभाषाओं को बचाने के लिए सबसे मुखर लड़ाई आदिवासी लड़ रहे हैं। भाषाओं को बचाने का सवाल आदिवासी विमर्श के मुख्य एजेंडे में है। भाषा संबंधी समकालीन बहसों को देखें तो पायेंगे कि भाषा और साहित्य की राजनीति के गलियारे में कुछ लोग भाषा का सवाल उठाते तो दिखते हैं लेकिन उनकी चिंता का केन्द्र केवल हिंदी है और उनकी लड़ाई एक दिखावा मात्र है, इसलिए उनसे किसी भी प्रकार की उम्मीद करना व्यर्थ है।

सवाल यह भी है कि लुप्त हो रही भाषाओं को बचाया जाना क्यों जरूरी है? हर भाषा का एक बहुत गहरा सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ होता है। अगर हम गौर करेंगे पायेंगे कि जो भाषाएं हाल ही में लुप्त हुई हैं या लुप्त होने के कगार पर खड़ी हैं, उनको बोलने वाले समुदाय भी लुप्त हो रहे हैं। हाल ही में लुप्त अहोम, आंद्रो, रंगकस, सेंगमई और तोलचा भाषा का संबंध जिन आदिवासी समुदायों से है, वे या तो स्वयं लुप्तप्रायः हैं या उनकी स्थिति इतनी खराब है कि अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उन्हें अपनी सांस्कृतिक विरासत को छोड़ना पड़ा है। भूमंडलीकरण से पैदा हुई नई आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था ने आदिवासी भाषा-संस्कृति और उनके जीवन के समक्ष अस्तित्व का संकट पैदा कर दिया है। एक आदिवासी भाषा का मरना उस पूरी ज्ञान परंपरा का खत्म होना है जिसे पुरातत्त्वविज्ञानी और भाषाविज्ञानी तथाकथित मुख्यधारा की ज्ञान-परंपरा से प्रगतिशील और विकसित साबित कर चुके हैं। भाषा-विज्ञानी पद्मश्री प्रो. अन्विता अब्बी ने अपने हाल के अध्ययनों में यह साबित कर दिया है कि अंडमान और निकोबार द्वीप समूह की भाषाएं (जो स्वयं और उनके बोलने वालों का अस्तित्व बहुत गंभीर खतरे में और लुप्तप्राय है) हिंदी, अंग्रेजी आदि बड़ी भाषाओं से बहुत समृद्ध हैं। निकोबारी में 'दर्द' के लिए दर्जनों शब्द हैं। यही स्थिति अन्य आदिवासी भाषाओं की है। प्रकृति संबंधी आदिवासियों का ज्ञान बेजोड़ है जो उनकी भाषाओं में ही छिपा हुआ है। साथ ही मातृभाषा को बचाया जाना इसलिए भी जरूरी है कि व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक का विकास मातृभाषाओं में ही संभव है। दुनियाभर के उदाहरण हमारे सामने हैं। तमाम महान व्यक्तियों से लेकर महान राष्ट्रों तक ने अपना विकास अपनी भाषाओं में ही किया है। भाषाविज्ञानी और शिक्षाविद यह भी साबित कर चुके हैं कि मातृभाषा में शिक्षा दिये जाने और मातृभाषा में विदेशी या अन्य भाषा पढ़ाए जाने से बच्चे तेजी से सीखते हैं। ऐसे कठिन दौर में जब हर चीज का अस्तित्व मुनाफे से निर्धारित हो रहा है, भाषाओं को बचाए जाने के सवाल पर सही राय बनाना और मातृभाषाओं के पक्ष में बड़ा आंदोलन खड़ा किया जाना एक ऐतिहासिक जरूरत है।

प्रतिवर्ष 21 फरवरी को दुनियाभर में 'अंतर्राष्ट्रीय मातृभाषा दिवस' मनाया जाता है। काफी समय से यूनेस्को भाषाओं को बचाने के प्रति जागरुकता फैलाने का काम कर रहा है। 'अंतर्राष्ट्रीय मातृभाषा दिवस मनाने की प्रथम घोषणा 17 नवंबर 1999 को यूनेस्को द्वारा ही की गई। संयुक्तराष्ट्र महासभा द्वारा औपचारिक रूप से प्रस्ताव पारित कर 2008 में इसे मान्यता दी गई। 2008 को संयुक्त राष्ट्र ने 'अंतर्राष्ट्रीय भाषा वर्ष' के रूप में मनाया। 'अंतर्राष्ट्रीय मातृभाषा दिवस' मनाने का उद्देश्य निर्धारित किया गया- विश्व में भाषाई और सांस्कृतिक विविधता और बहुभाषिकता को बढ़ावा देना। उल्लेखनीय है कि इस दिन का संबंध भारतीय उपमहाद्वीप से है। पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांग्लादेश) में पाकिस्तान सरकार द्वारा उर्दू थोपे जाने के विरोध में 21 फरवरी 1952 को ढाका में छात्रों ने अपनी मातृभाषा बांग्ला के पक्ष में जबर्दस्त विरोध प्रदर्शन किए, जिसमें पुलिस और सेना की गोली से बडी संख्या में प्रदर्शनकारी मारे गए। मातृभाषा के सवाल से शुरू हुआ यही आंदोलन बाद में बांग्ला देश की मुक्ति के आंदोलन में बदल गया। पूर्वी पाकिस्तान (पूर्वी बंगाल) के भाषा आंदोलन का एक और महत्वपूर्ण पक्ष है - बहुसंख्यक मुस्लिम आबादी ने उर्दू की खिलाफत करते हुए बांग्ला (के पक्ष में आंदोलन कर यह साबित कर दिया कि भाषा का धर्म से अनिवार्य रिश्ता नहीं होता। बांग्लादेश में 1952 के शहीदों को याद करने के लिए 21 फरवरी को सार्वजनिक अवकाश रहता है और इस दिन को शहीद दिवस (अंतर्राष्ट्रीय मातृभाषा दिवस) के रूप में मनाया जाता है।

मानव सभ्यता का इतिहास इस बात का गवाह है कि सत्ताएं अपने वर्चस्व के लिए हथियारों के साथ विचारधारात्मक उपादानों का भी सहारा लेती रही हैं। आम जन को सत्ता से बेदखल करने का सबसे आसान उपाय होता है सत्ता को ऐसी भाषा में चलाना जो आम जनता समझती ही न हो। संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी इसके उदाहरण हैं। जब जनता सत्ता की कार्यपद्धति को समझेगी

ही नहीं तो उस पर सवाल कैसे उठाएगी? लोकतंत्र चूंकि जनता की भागीदारी का तंत्र माना जाता है, इसलिए इससे अपेक्षा होती है कि इसमें शासन को यथासंभव पारदर्शी बनाया जाए और शासन में जनता की भागीदारी सुनिश्चित की जाए। इस संदर्भ में भारतीय लोकतंत्र पर सबसे बड़ा हमला इसके बनने के साथ ही कर दिया गया - अंग्रेजी को सह-राजभाषा बनाकर। होना तो यह चाहिए था कि भारतीय भाषाओं (हिन्दुस्तानियों की मातृभाषाओं) को राजभाषा बनाया जाता और उनके प्रोत्साहन की हरसंभव कोशिश की जाती। लेकिन औपनिवेशिक मानसिकता ने अंग्रेजी को विकास का पर्याय मान लिया और भारतीय भाषाओं की लगातार उपेक्षा की। चीन, जापान, कोरिया, इटली, फ्रांस आदि देशों ने यह साबित कर दिया कि भाषा (कम से कम अंग्रेजी) का विकास से कोई अनिवार्य रिश्ता नहीं।

उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालयों में भारतीय भाषाओं के लिए श्यामरुद्र पाठक कई बरस से सवाल उठा रहे हैं। उनका प्रयास नई उम्मीदें तो देता है लेकिन इस आंदोलन को और आगे ले जाने की जरूरत है जहां इसमें आदिवासी भाषाएं और उनके बोलने वालों का अस्तित्व और महत्व भी शामिल हो सके। इस दिशा में सरकारी प्रयास भी मदद कर सकते हैं, भारतीय संदर्भ में खासी भाषा इसका उदाहरण है, जो पहले यूनेस्को की खतरे की स्थिति वाली भाषाओं में शामिल थी लेकिन मेघालय सरकार द्वारा उसे कामकाज की भाषा बनाने और विभिन्न क्षेत्रों में इस्तेमाल शुरू करने से उसे नया जीवन मिल गया है।

भाषा के सवाल पर सोचते वक्त हमें लोकतंत्र की मूल प्रतिज्ञा - जनता की भागीदारी - को याद रखना है। अगर हम सत्ता में जनता की भागीदारी के पक्षधर हैं तो हमें मातृभाषाओं को बचाना और उचित स्थान देना ही होगा। यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है कि कई राज्यों में संस्कृत के लिए अलग मंत्रालय है जबकि मातृभाषाओं की तरफ देखने वाला कोई नहीं। भाषाएं सीखने से हमारा कोई विरोध नहीं है। व्यक्ति जितनी भाषाएं सीखे, उतना अच्छा है, लेकिन अपनी मातृभाषा की कीमत पर नहीं। ये भाषाएं हमारी धरोहर हैं। इनमें हमारे पुरखों की स्मृतियां और ज्ञान संरक्षित है। यह जरूरी है कि हम भाषाओं के मसले पर संवेदनशील हों और मर रही भाषाओं को बचाने के लिए आगे आएं। इसके लिए सबसे पहले हमें उन भाषाओं को बोलने वाले समुदायों के प्रति भी संवेदनशील होगा। तभी हम इस लोकतंत्र को समावेशी बना सकते हैं।

राहिणी प्रसाद, (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास लेखन

सातो युता

सातो युता जापान के रहने वाले हैं तथा आजकल भारतीय भाषा केन्द्र में एम.ए. हिंदी के छात्र हैं। हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उनके प्रिय लेखकों में से एक हैं। हिंदी दिवस के अवसर पर प्रस्तुत है उनका रामचन्द्र शुक्ल की इतिहास दृष्टि से संबंधित लेख।

रामचंद्र शुक्ल का *हिंदी साहित्य का इतिहास* सबसे पहले *हिंदी शब्द सागर* की भूमिका के रूप में लिखा गया और उसके पश्चात् सन् 1929 में एक पुस्तक के रूप में संपादित किया गया। यह पुस्तक अपने अनेक गुणों के कारण हिंदी साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ आदर्श मानी जाती है तथा शुक्लोत्तर युगीन आलोचकों को गहरा प्रभाव देती आई है।

शुक्ल के साहित्येतिहास का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य क्या था, यह स्पष्ट करने के लिए शुक्लपूर्व हिंदी साहित्येतिहास लेखन से शुक्ल की तुलना करना उचित रहेगा। यहाँ हिंदी साहित्येतिहास लेखन के "आदिकाल" की कतिपय पुस्तकों का परिचय दिया जाता है।

हिंदी साहित्येतिहासों के इतिहास में सबसे पहले गार्सां द तासी (Garcin de Tassy) के *हिंदुई और हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास* (*Histoire De La LittératureHhindoue et Hindoustani*) का नाम आता है, जिसका प्रथम संस्करण (2 खंड) सन् 1839 से सन् 1847 तक की अवधि में, संवर्धित द्वितीय संस्करण (3 खंड) सन् 1870 से सन् 1871 तक की अवधि में तथा जिसका हिंदी अनुवाद सन् 1952 में प्रकाशित किया गया। किशोरीलाल गुप्त के *हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास* के अनुसार तासी के पश्चात् हिंदी साहित्येतिहास की जो द्वितीय पुस्तक मानी जाती है, वह सन् 1848 में मौलवी करीमुद्दीन के द्वारा प्रकाशित हुआ *तबक़ातुश्शुअरा* है (गुप्त, 1978, पृ. 96-98)। किंतु इसका अधिकांश विवरण तासी की पुस्तक का रूपांतरण मात्र था।

इसके पश्चात् हिंदी का जो तृतीय साहित्येतिहास लिखा गया, वह सन् 1878 में शिवसिंह सेंगर के द्वारा प्रकाशित हुआ *शिवसिंह सरोज* था। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में 838 कवियों की जीवनियाँ एवं उदाहरण के लिए 2000 से अधिक पदों का उद्धरण दिया गया है। कवियों के नाम कालानुक्रम से नहीं, वरन् वर्णानुक्रम से दिए गए हैं। जिस संपादक ने *शिवसिंह सरोज* के नए संस्करण को संपादित करके छपवाया, वह उपर्युक्त *हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास* का लेखक किशोरीलाल गुप्त ही था। उनके मतानुसार तासी कृत *हिंदुई और हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास,* करीमुद्दीन कृत *तबक़ातुश्शुअरा* एवं सेंगर कृत *शिवसिंह सरोज,* इन तीनों हिंदी साहित्येतिहासों को सच्चे अर्थ में साहित्येतिहास नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन तीनों में कवियों के नाम कालानुक्रम से नहीं, वरन् वर्णानुक्रम से ही दिए गए हैं (गुप्त, 1978, पृ. 94-98)। तो गुप्त ने किस पुस्तक को हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास माना?

वह सन् 1889 ई. में जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (George Abraham Grierson) के द्वारा प्रकाशित हुआ *हिंदुस्तान का आधुनिक देशी साहित्य* (*The Modern Vernacular Literature of Hindustan*) था, जिसका विवरण कालानुक्रम से दिया गया है। ग्रियर्सन ने सन् 700 से तत्काल तक के हिंदी साहित्येतिहास का विवरण 12 अध्यायों में बाँटकर दे दिया।

मिश्रबंधु कृत *मिश्रबंधु विनोद* (4 खंड) के तृतीय तक के खंड सन् 1914 में एवं चतुर्थ खंड सन् 1934 में प्रकाशित किया गया। मिश्रबंधु गणेश बिहारी मिश्र, श्यामा बिहारी मिश्र एवं शुकदेव बिहारी मिश्र के तीन भाइयों का उपनाम था। उनकी यह पुस्तक हिंदी साहित्य का इतिहास मानी जा सकती है कि नहीं, इस बात को लेकर देवीशंकर अवस्थी ने लिखा है; "मिश्रबंधुओं ने अपने "विनोद" को हिंदी-साहित्य का इतिहास कहने की गलती स्वयं नहीं की, यह भूल परवर्ती आलोचकों ने ही की है (अवस्थी, 1986, पृ. 448)।"

संक्षेप में शुक्लपूर्व युग के मुख्य साहित्येतिहास के लेखकों की सूची ऐसे दी जा सकती है :

1. गार्सां द तासी
2. मौलवी करीमुद्दीन
3. शिवसिंह सेंगर
4. ग्रियर्सन
5. मिश्रबंधु

अब मैं यह देखना चाहता हूँ कि इन सब शुक्लपूर्व साहित्येतिहासों की अपेक्षा शुक्ल के साहित्येतिहास का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य क्या था? यह स्पष्ट करने के लिए साधारण इतिहास लेखन की पद्धति पर थोड़ा विचार करना पड़ेगा।

जापान, चीन जैसे पूर्वी एशिया के देशों के इतिहास लेखन में मुख्य रूप से दो प्रकार की पद्धतियाँ होती हैं। एक तो हेंनेंताई (Hennentai) पद्धति है तथा दूसरी किदेंताई (Kidentai) पद्धति है। इन दोनों संकल्पनाओं के लिए अँग्रेजी में कोई उचित शब्द नहीं है, इसलिए अब मैं जापानी भाषा के सहारे इनका परिचय देता हूँ।

हेंनेंताई अतीत में घटी घटनाओं को कालानुक्रम से ही विन्यस्त करने की पद्धति है। इस पद्धति का गुण यह है कि इतिहास को प्रवहमान रूप में दर्शाया जा सकता है। दूसरी ओर किदेंताई में प्रत्येक व्यक्ति या देश की जानकारियाँ पृथक्-पृथक् करके प्रत्येक सूत्र में बाँधकर दी जाती हैं। इसमें एक घटना को कतिपय स्थानों पर दुहराया जाने का दोष भी है, किंतु एक व्यक्ति या देश को गहराई से समझने के लिए यह पद्धति अच्छी है। इस किदेंताई का आविर्भाव प्राचीन चीन के महान् इतिहासकार सीमा चिआन (Sima Tan) के *महान् इतिहासकार के अभिलेख (Records of the Grand Historian)* में हुआ। सीमा चिआन के पश्चात् चीन में राजा की आज्ञा से इतिहास ग्रंथ संपादित करवाने की परंपरा उत्पन्न हुई, तथा चिंग राजवंश के एक राजा के द्वारा *चौबीस इतिहास (Twenty-Four Histories)* को ही *सच्चा इतिहास* निश्चित किया गया। इन चौबीस इतिहासों में मिथकीय युग से तत्काल तक के सहस्रों वर्षों का इतिहास एकत्र किया गया तथा ये सब किदेंताई पद्धति में ही लिखे गए।

भारतवर्ष में इतिहास लेखन की ऐसी परंपरा नहीं रही, जो सत्ता के द्वारा सहस्रों वर्षों तक जारी रखी गई। पुराने युग के कवियों का परिचय नाभादास कृत *भक्तमाल* जैसे कवि-जीवनवृत्तों एवं फारसी साहित्य की परंपरा से आए हुए तजकिरों में देखने को मिलता है, किंतु केवल इन्हीं से साहित्येतिहास नहीं लिखा जा सकता। यह तो सच है कि किदेंताई पद्धति में हेंनेंताई पद्धति की अपेक्षा जीवनी पर महत्त्व दिया जाता है, किंतु मैं इस बात पर बल देना चाहता हूँ कि साहित्य का इतिहास कवियों की जीवनियों का संग्रह मात्र नहीं है।

साहित्य का इतिहास क्या है, इस बात को लेकर शुक्ल ने अपने साहित्येतिहास की भूमिका में यह घोषित किया है।

> *जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।*

उन्होंने 'इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखने' से हिंदी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभाजित किया, और फिर प्रत्येक काल के विवरण के आरंभ में उस काल का सामान्य परिचय दिया, और उस काल के प्रमुख कवियों की व्याख्या उनकी जीवनियों एवं रचनाओं के उद्धरण के साथ कर दी। यह पद्धति शुक्लपूर्व हिंदी साहित्येतिहास में तो नहीं मिलती। उनके लेखन के ताने-बाने में काल की प्रवृत्ति ताना है तथा कवियों की जीवनियों एवं रचनाओं की आलोचना बाना है। यदि कवियों के व्यक्तिगत तत्त्वों पर ही बल दिया जाए तो वह तजकिरा हो जाता है। यदि काल की प्रवृत्ति देखते-देखते रचनाओं का तिरस्कार किया जाए तो वह साहित्य का सरस इतिहास नहीं वरन् सामाजिक या राजनीतिक तथ्यों मात्र का नीरस इतिहास हो जाता है। यहाँ मेरे विचार में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि शुक्ल तजकिरों की परंपरा से आगे बढ़कर तथा हेंनेंताई की नीरसता या एकरसता से मुक्त होकर किदेंताई जैसी नई पद्धति हिंदी साहित्येतिहास के क्षेत्र में स्थापित कर दी है। काल की प्रवृत्ति एवं साहित्यिक रचनाओं की विशेषता, इन दोनों वस्तुओं को संतुलित रूप से जोड़ने के लिए कालों को ठीक ढंग से विभाजित करना पड़ता है. कालों को विभाजित करने के लिए प्रत्येक काल की जनता की चित्तवृत्ति को ठीक ढंग से पकड़ना पड़ता है। शुक्ल को यह बात अच्छे प्रकार से ज्ञात थी।

उल्लेखनीय बात यह भी है कि वे अपने साहित्येतिहास लेखन में अध्यात्मिकता, उपयोगिता आदि साहित्येतर मानदंड नहीं मानते थे, जिस बात को रामस्वरूप चतुर्वेदी ने उनका सबसे बड़ा वैशिष्ट्य माना (चतुर्वेदी, 2011, पृ. 176-177)। जिस पाठक के पास साहित्य का सच्चा आस्वादन करने की क्षमता नहीं है, वह तो विश्वास नहीं कर पाएगा कि साहित्य अपने पाँवों पर ही खड़ा हो सकता है, साहित्य स्वयं स्वायत्त हो सकता है। तब उसे साहित्य के मूल्यांकन में साहित्येतर कसौटी लाने की आवश्यकता पड़ती है। किंतु यह देखना चाहिए कि शुक्ल स्वयं साहित्य के एक उत्सुक पाठक थे। वे अपनी उत्सुकता से ही साहित्य पढ़ते थे तथा उसकी आलोचना करते थे। मैं नहीं कहता कि शुक्लपूर्व साहित्येतिहास के लेखक अच्छे पाठक नहीं थे, किंतु खेद की बात है कि शुक्लोत्तर हिंदी साहित्येतिहास में तो कभी-कभी ऐसे आलोचक भी देखने को मिलते हैं, जिन्होंने शायद कोई साहित्य तो पढ़ा हो, किंतु साहित्य पढ़ने का आनंद कभी प्राप्त न किया हो।

शुक्लोत्तर युग के हिंदी साहित्येतिहास लेखन में शुक्ल का प्रभाव इतना गहरा रहा कि कतिपय आलोचक बिना अपने मस्तिष्क से विचार किए उनका अंधानुसरण ही करने लगे। उदाहरण के लिए जायसी अध्ययन को देखें। शुक्ल ने अपना साहित्येतिहास प्रकाशित करने से पहले सन् 1924 में *जायसी ग्रंथावली* संपादित करके छपवाया था, जिसमें *पद्मावत* एवं *अखरावट* की मौलिक कृतियों के साथ 170 पृष्ठों से अधिक लंबी भूमिका भी लगी हुई थी। उसमें एक विवाद यह था कि जायसी स्वयं इस्लाम धर्म के सिद्ध फकीर थे कि नहीं। शुक्ल ने अपने साहित्येतिहास में भी स्पष्ट रूप से लिखा कि 'जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे'। यह मानना सबसे पहले ग्रियर्सन ने लिखा था, मिश्रबंधु ने भी दुहराया था, तथा अंततः शुक्ल ने भी पुष्ट कर दिया। इस मत के विपरीत ए.जी. शिरेफ, विजयदेवनारायण साही प्रभृति कतिपय आलोचकों ने खंडन किया, किंतु अधिकांश आलोचकों ने बिना अपने सोचने के तर्क व्यक्त किए केवल शुक्ल का अंधानुसरण ही करके जायसी को सिद्ध फकीर माना। इस स्थिति को दृष्टि में रखते हुए शिवसहाय पाठक

ने कहा "जब शुक्ल जी ने "जायसी ग्रंथावली" की भूमिका में यह बात लिखी तो तब से आज तक (लगभग सभी) शोधकर्ताओं ने इस समस्या को लेकर शुक्ल जी के द्वारा लिखे गए वाक्य को थोड़ा परिवर्तित करके अपने शोधकार्य के नाम से प्रस्तुत किए हैं"। (यह उनकी पुस्तक का सही उद्धरण नहीं है वरन् मैंने कई वर्षों पहले जिसका जापानी में अनुवाद कर रखा था उसी से पुनः अनूदित किया गया वाक्य है। *मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य* (पाठक, 1976) के पृ. 53 में इसका मौलिक वाक्य मिलेगा।

जायसी वास्तव में सिद्ध फकीर थे कि नहीं, वह इस पत्र में विवाद करने की बात नहीं है। किंतु मैंने इस वाक्य के माध्यम से यह दिखाना चाहा कि शुक्ल का प्रभाव कितना गहरा रहा।

शुक्ल के साहित्येतिहास में कोई भी दोष या त्रुटि नहीं है, ऐसी बात नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो उसका अर्थ यह निकलता कि शुक्ल के पश्चात् हिंदी साहित्येतिहास लेखन में कोई भी उन्नति नहीं हुई। किंतु वास्तविकता यह है कि लगभग सभी आलोचक शुक्ल को अपना प्रस्थानबिंदु मानकर उसके प्रति सहमति या असहमति व्यक्त करते हुए अपना नया साहित्येतिहास बना लेते हैं। इसका प्रमाण यह है कि अब तो हिंदी साहित्य का ऐसा इतिहास नहीं लिखा जाएगा जिसमें कालविभाजन की संकल्पना विद्यमान नहीं है। कौन सा काल कब से आरंभ होता है या किस काल को किस नाम से संबोधित किया जाए, इस प्रकार की बात को लेकर कुछ-न-कुछ सुधार करते हुए भी अधिकांश आलोचक शुक्ल के कालविभाजन की संकल्पना का अस्तित्व मानते हैं। तथा प्रत्येक काल की विशेष प्रवृत्ति का विवरण देते हुए उससे कवियों के जीवनवृत्त एवं रचनाएँ जोड़ देते हैं। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, यह पद्धति शुक्ल के द्वारा ही आरंभ की गई है।

अंत में मैं फिर से अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करता हूँ।

शुक्ल के साहित्येतिहास ने पुराने ढंग के तजकिरे से पृथक् तथा तथ्यों मात्र के नीरस विवरण से भी पृथक् एक नई पद्धति उत्पन्न कर दी, जिसे मेरे विचार में पूर्वी एशिया के इतिहास लेखन में "किदेंताई" जैसी नई पद्धति थी।

उन्होंने अपने साहित्येतिहास लेखन में "जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन" का "साहित्य परंपरा के साथ सामंजस्य दिखाने" के लिए अपने नए ढंग से कालों को विभाजित कर दिया। इस कालविभाजन का आविष्कार एवं उसके अनुसार की गई कवियों की आलोचना शुक्ल की सबसे बड़ी विशेषता थी, और इसी प्रकार उन्होंने समूचे हिंदी साहित्य के प्रति अभूतपूर्व योगदान दिया है।

संदर्भ ग्रंथ :

शुक्ल, रामचंद्र, 2015, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, वाणी प्रकाशन

चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 2011, *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन

शर्मा, रामविलास, 2015, *आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना*, राजकमल प्रकाशन

अवस्थी, देवीशंकर, 1989, *मिश्रबंधु (हिंदी साहित्य कोश, भाग 2)*, ज्ञानमण्डल लिमिटेड

अवस्थी, देवीशंकर, 1986, *रामचंद्र शुक्ल (हिंदी साहित्य कोश, भाग 2)*, ज्ञानमण्डल लिमिटेड

गुप्त, किशोरीलाल, 1978, *हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास,* विद्र भूद्र प्रकाशन

तासी, गार्सां द : वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर (अनुवाद), 1952, *हिंदुई साहित्य का इतिहास,* हिंदुस्तानी एकेडेमी

करीमुद्दीन, 1971, *तजकिरा-ए तबकात अश्शुअरा-ए हिंद,* अजीमुश्शान बुक डिपो

ग्रियर्सन, जॉर्ज अब्राहम, 1889, *द मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान,* एशियाटिक सोसायटी

मिश्रबंधु, 1972, *मिश्रबंधु विनोद,* दुलारेलाल भार्गव, अध्यक्ष गंगा पुस्तकमाला कार्यालय।

अभ्युदय, (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

कवि विद्रोही का जीवन दर्शन

मणीन्द्रनाथ ठाकुर

डॉ. मणीन्द्रनाथ ठाकुर, सामाजिक विज्ञान संस्थान में राजनीतिशास्त्र के प्राध्यापक और विचारक हैं। साहित्य में उनकी गहरी दिलचस्पी है। रमाशंकर यादव 'विद्रोही' की कविताओं को वे सामाजिक परिवर्तन और विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में देखते हैं। प्रस्तुत हैं, उनके विचार।

कल शाम अचानक पता चला कि कवि 'विद्रोही' नहीं रहे। वैसे तो आजकल कम ही कवि विद्रोही रह गए हैं, लेकिन मैं बात कर रहा हूँ कवि रमाशंकर यादव 'विद्रोही' की जिनका वजूद ही एक तरह का विद्रोह था; जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रांगण में लगातार बने रह कर व्यवस्था को चुनौती देना जिनका जीवन था। कल शाम फेसबुक खोलते ही खबर मिली कि विद्रोही जी नहीं रहे, यकीन ही नहीं हुआ क्योंकि एक दिन पहले ही पुस्तकालय के पीछे के हिस्से में कुर्सी पर बैठे दिखे थे। काफी गंभीर मुद्रा में कुछ सोच रहे थे और ऐसा लग रहा था कि विस्फारित नयनों से दुनिया जी भरकर देख रहे हों और अलविदा कहने की तैय्यारी में थे। मैंने हाथ हिला कर उन्हें आकर्षित करने का प्रयास किया लेकिन उन्होंने ध्यान नहीं दिया। मैं भी जल्दी में था, आगे बढ़ गया। अब अपने आप पर गुस्सा आ रहा है कि क्यों नहीं रुक कर उनसे बात कर ली, क्यों नहीं उस महान आत्मा से थोड़ी और मुलाकात कर ली। मैं नया-नया जेएनयू आया ही था, अपने एक विभागीय दोस्त के साथ चाय पीने पुस्तकालय के पीछे कैंटीन में बैठा था। हमारे पास ही चट्टान पर बैठा एक व्यक्ति कुछ बुदबुदा रहा था। गौर से सुनने पर समझ में आया कि किसी को माँ बहन की गलियाँ दे रहा था। बिखरे बाल, गंदे कपडे, छोटी-छोटी उगी हुई दाढ़ी, बिना किसी की ओर मुखातिब हुए बोलना, सबकुछ देखकर समझने में देर नहीं लगी कि मामला सामान्य नहीं है। मेरे एक मित्र मुझसे अक्सर प्रश्न करते हैं कि मैं ऐसे असामान्य लोगों में रुचि क्यों लेता हूँ। मेरा जबाब हर बार यही होता है कि उनमें ही कुछ असामान्य बातें होती हैं जिसमें कुछ रचनात्मकता होती है। बाकि हम लोग विच्छिप्त होते तो हैं, लेकिन सामान्य समझे जाते हैं, क्योंकि अपनी पुरजोर कोशिश से सामान्य दीखते हैं। मेरे विभागीय मित्र ने कहा अब यहाँ से चलना चाहिए क्योंकि उनके लिए ये गालियाँ असहनीय हो रही थीं। मेरे अन्दर की उत्सुकता और जग गयी और मैंने उन्हें समझने का प्रयास शुरू कर दिया।

लोगों से पूछने पर अक्सर लोग इतना ही बता पाते थे कि विद्रोही जी हैं और कवि हैं, थोडा खिसक गए हैं। लेकिन मेरा मन संतुष्ट नहीं होता था। अक्सर जेएनयू में जहाँ-तहाँ दिख जाते थे। यहीं रहते थे। प्रकृति के साथ। किसी कमरे में नहीं बल्कि नीले आकाश के नीचे। एक कम्बल कंधे पर और पेंट, शर्ट, जूते या चप्पल में। मौन भाव से कभी पुस्तकालय कैंटीन, कभी मामू ढ़ाबा, कभी गंगा ढाबा तो कभी 'ट्वेंटी फोर बाई सेवेन' और कभी सड़क पर दिख जाते थे। धीरे-धीरे मुझे उनके बारे में जानकारी मिलने लगी और मेरी उत्सुकता और बढ़ने लगी। फिर एक दिन जाड़े की सुबह टहलने के बाद लौट रहा था कि 'ट्वेंटी फोर बाई सेवेन' ढाबे पर चाय पीते दिख गए। मैं भी थोड़ा फुर्सत में था और उनकी दो पंक्तियाँ जिसे मैं अक्सर दुहराता था कि 'दिन भर पढ़ना, रात भर लिखना; जिंदगी है क्या कोई परियोजना' को याद कर चाय का एक कप लेकर उनके पास जा बैठा और एक साक्षात्कार के मूड में उनसे कुछ सवाल करना शुरू किया। फिर मुझे बहुत कुछ पता चला जिसे मैं जानना चाहता था। सोचा था कि एक दिन औपचारिक साक्षात्कार करूँगा, लेकिन शायद ऐसे कल कभी नहीं आते हैं।

मैंने उनसे पूछा 'कैसे हैं विद्रोही जी, सब ठीक तो चल रहा है?' हो सकता है कि मेरे कहने के अंदाज से उन्हें यह बात समझ में आ गयी कि सवाल केवल उनका हाल-चाल पूछने के लिए नहीं किया गया था, बल्कि उनके विचित्र जीवन के बारे में जानना चाहता था। इस सवाल के जबाब में उन्होंने अपनी पूरी राम कहानी ही कह डाली। कहने लगे 'मैं ठीक हूँ डॉक्टर साहेब, अब बिलकुल ठीक हूँ। अब जीवन सफल हो गया इसलिए निश्चिंत हूँ।' बात कुछ भी समझ में नहीं आयी, क्योंकि अक्सर ऐसे लोगों के बारे में हमारा समाज समझता है कि इनका जीवन असफल रहा है। मैंने उत्सुकता भरी निगाह से उनकी ओर देखा। विद्रोही जी की गुत्थी धीरे-धीरे खुलने लगी। कहने लगे 'डॉक्टर साहेब! मैं जेएनयू के हिंदी विभाग में एम.ए. करने आया था। सब कुछ ठीक चल रहा था। लेकिन मेरे दिमाग में एक बात चलती थी कि इस व्यवस्था में लिख कर परीक्षा देने की परंपरा क्यों है और मैं अपने आप को कवि मानता था, इसलिए यह भी सवाल था कि इस व्यवस्था में कवियों को भी लिख कर सबकुछ व्यक्त करने की क्या जरुरत है। मैंने लिखित परीक्षा देने से मना कर दिया। नतीजतन, व्यवस्था ने मुझे बाहर कर दिया। मैंने उस दिन प्रण किया कि मैं अपने जीवन को यह प्रमाणित करने में लगा दूंगा कि इस व्यवस्था का यह सोच सही नहीं है।' मैंने उनके बेतरतीब से चेहरे पर पड़ी उम्र की झुर्रियों के बीच एक विचित्र सा दृढ़ संकल्प देखा। लगा कहीं खो गए हैं यादों में और अपनी जवानी में लौट गए हैं। रात भर ठंढ में, खुले में सोने के बावजूद उनके चेहरे पर थकान या खीज या पश्चाताप का नामोनिशान नहीं था। ऐसा लग रहा था कि किसी अदृश्य दुश्मन से रात भर लड़ते रहे हों और एक राउंड की जीत का जश्न सुबह की चाय के साथ मनाना चाहते हों।

मैं यह बता दूँ कि यह जेएनयू जैसे विश्वविद्यालय की खासियत है कि यहाँ ऐसे अनेक लोग पाए जाते हैं जिन्हें कैंटीन वाले भी जानते हैं और उनसे कभी खाने के पैसे नहीं मांगते। यदि कभी उन्होंने दे दिया तो ठीक, नहीं दिया तो ठीक। छात्रों के दिल में भी इनके लिए सम्मान ही रहता है। ये माहौल विद्रोही जी के लिए ठीक था, उनके विद्रोह की यहाँ कद्र थी। मैं अभी उनकी बातों को समझने की कोशिश ही कर रहा था कि चाय के दूसरे खेप लिए पुकारा गया। हम दोनों उठ कर गए और गरम-गरम चाय लेकर वापस लोहे की कुर्सियों जम गए। बातों के सिलसिले को आगे बढ़ाते हुए मैंने पूछा 'विद्रोही जी बात कुछ समझ में नहीं आयी कि व्यवस्था के जिस सोच के खिलाफ आप लड़ रहे हैं उसमें तो कोई परिवर्तन दिखता ही नहीं है फिर आप सफल कैसे हो गए'। उन्होंने कहानी आगे बढ़ाई और कहने लगे : 'डॉक्टर साहब! व्यवस्था तो इतनी जल्दी बदलेगी नहीं। मेरा प्रण तो इतना ही था कि मेरे जीवन के तरीके को भी मान्यता मिल जाये। लोग यह मान जाएँ कि विद्रोही का भी अपना तरीका हो सकता है। किसी एक ही घिसे पिटे तरीके को आदर्श मानने की जिद वे छोड़ दें। व्यक्ति के अस्तित्व को समाज और व्यवस्था को स्वीकार करना होगा। सिस्टम तो हमें ही निगल जाता है फिर उसका फायदा ही क्या है। अपने अस्तित्व की लड़ाई में मैं सफल इसलिए हूँ कि मैं कविताऐं लिखता और छापता नहीं हूँ, मैं कविताऐं बोलता हूँ। व्यवस्था बोलने को मान्यता ही नहीं देता है, कहता है लिखना जरुरी है, छापना भी जरुरी है। अब कवि क्या-क्या करे। उसे तो लोगों से संवाद करना है। अपनी बात लोगों तक पहुंचानी है। अदृश्य लोग नहीं, जिंदा लोग जो विद्रोही की बातों को समझ सके, उसके भावों को महसूस कर सके और कवि भी श्रोता के भावों के उत्थान पतन को देख सके। भावों का यही खेल तो कवि-कर्म है।' मैं उनके इस दर्शन से बेहद प्रभावित हुआ। कवि-कर्म की यह परिभाषा मुझे बिलकुल मौलिक लगी। खासकर ऐसे युग में जब ज्यादातर कवि या तो दरबारी हो गए हैं या फिर कारोबारी हो गए हैं... सुनने में आया है कि कवियों के भी सचिव होते हैं और ग्राहकों के साथ भावों का तोलमोल होता है। कवि सम्मेलनों में कमाए पैसे पर उन्हें भी इनकम टैक्स देना पड़ता है। है न यह आश्चर्य की बात कि ऐसे युग में कोई ऐसा भी कवि है जो कहता है कि कवि-कर्म तो भावों के उत्थान और पतन का खेल है, इसका अर्थोपार्जन से क्या लेना-देना है।

'आप कैसे कह सकते हैं कि लोगों ने आपकी इस बात को स्वीकार कर लिया कि जीने का आपका अपना तरीका भी हो सकता है और बिना छपे भी आप कवि मान लिए जा सकते हैं?' मैंने पूछा। उनके जवाब में मेरे लिए नई सूचनाएँ भी थीं। कहने लगे 'आप यह समझ लो कि मैंने आधी जंग उस दिन जीत ली जिस दिन बीबीसी ने मेरे ऊपर एक फिल्म बना डाली। अब कितने कवि हैं जिनके ऊपर ऐसी कोई फिल्म बनी है। और आप समझ सकते हैं कि इसके लिए मैंने कोई प्रयास नहीं किया होगा। मैं तो पत्रकारों को जानता तक नहीं हूँ। किसी को जानने की कोशिश भी नहीं करता हूँ। न ही बीबीसी की फिल्म को लिए अपने महान कवि होने का परिचय देने के लिए भटकता फिरता हूँ मुझे केवल इस बात का संतोष हुआ कि बिना लिखे भी समाज मुझे कवि मान सकता है। मेरी जिद बिना वजह नहीं थी। मैं तो इस व्यवस्था को समझाना चाहता हूँ कि जीवन जीने के अनेक तरीके होते हैं उन्हें साँचें में मत ढालें।' यह बात मुझे बेहद अच्छी लगी क्योंकि मेरा खुद का भी यह मानना है कि जीवन के अनेक रंग होते हैं और हर आदमी अपने तरीके से जीना चाहता है। आसपास के लोगों को उसके इस चुनाव का सम्मान करना चाहिए। व्यवस्था को भी इसका ध्यान रखना चाहिए। अक्सर व्यवस्था के मापदंड स्थापित करने की बात को लेकर मुझे चिढ़ होती है। कुछ विद्वान् ऐसे होते हैं जो आपका आकलन ही उस मापदंड पर करते हैं। यह आधुनिकता की बिडम्बना है। गांधी का स्वराज भी यही है कि लोगों को अपने जीवन को अपनी तरह से जीने की स्वतंत्रता होनी चाहिए और उन्हें अपने निर्णयों के लिए जिम्मेदार भी होना चाहिए। इसका मतलब अराजकता कतई नहीं है, एक व्यक्ति की स्वतंत्रता सबके लिए स्वतंत्रता का आधार होना चाहिए। इसका मतलब केवल इतना है कि सबों को मानव होने का सम्मान मिलना चाहिए। आजकल विज्ञान के दर्शन पर चिंतन करने वाले कई चिन्तक इस बात पर शोध कर रहे हैं कि जीवन के अनेक रंग कैसे एक साथ मिल कर दुनिया का निर्माण करते हैं, फिर एक सर्वव्यापी और सर्वमान्य जीवन कला की मांग का क्या औचित्य है। गाँधी के बारे में विद्रोही जी के विचार में एक खास बात है। गाँधी पर बोलते हुए उन्होंने इसबात का जिक्र किया था कि उनके जीवन पर गाँधी का बड़ा प्रभाव था। कक्षा दो में उन्होंने कोई कविता पढ़ी थी जिसमें लिखा था कि गाँधी के पास जीवन जीने के दो सूत्र थे : सदा सच बोलना और सबों को गले लगाना। उसी समय से विद्रोही जी ने इन दो सूत्रों को अपना आदर्श बना लिया। फिर कक्षा चार में कोई कविता सुनी जिसका आशय था कि गाँधी जी बिडला के घर में सो गए। लेकिन विद्रोही जी को ये बात सही नहीं लगी। उनका मानना था कि गाँधी टोपी खुद गाँधी ने तो नहीं पहनी लेकिन कुछ लोगों ने उसे बेचा। ये बेचने वालों में कौन थे यह कहने की जरूरत नहीं है।

क्रान्तिकारी कवि विद्रोही गाँधीवादी भी थे। यह जानकर मुझे बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ। गाँधी, मार्क्स और अम्बेडकर के विचारों के बीच जिस संवाद की बात मैं किया करता हूँ, विद्रोही जी से बात करने पर मुझे उसका जीवंतरूप दिखने लगा था। मैंने उनसे पूछा कि क्या जिन लोगों के लिए आप कविताएँ लिखते हैं उनपर भी कोई प्रभाव उन्हें दिखता है। उनका उत्तर था : 'मैं इस बात की चिंता नहीं करता हूँ। मैं तो अपना कवि-कर्म करता हूँ। लोग मुझे सुनते हैं। इसी का मुझे संतोष है। मैं किसी सम्मलेन के लिए कविताएँ नहीं पढ़ता हूँ। मैं तो लोगों के लिए कविताएँ कहता हूँ। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के छात्रों ने मुझे बहुत

सुना है अक्सर सुनते रहते हैं। सुबह शाम जब भी कहीं लड़के मिलते हैं उनके आग्रह पर कविताएँ कहता हूँ। उनके द्वारा किये गए विरोध प्रदर्शनों में कविताएँ कहता हूँ। कुछ काम आ जाता हूँ उनके। यही मेरा पारितोषिक है। यही मेरा जीवन है।' मेरा मन उनके लिए सम्मान से भर गया। मैं कभी सोच भी नहीं सकता था कि पागल से दिखने वाले यह व्यक्ति वास्तव में एक क्रांतिकारी दार्शनिक है जो नीत्से की तरह संवेदनशील है। मन में विद्रोह की ज्वाला है लेकिन व्यवहार में शांत है, उग्र नहीं है। अक्सर चुपचाप रहता है, लेकिन चुप्पी में में भी विद्रोह के स्वर हैं।

अब मुझे उनके पारिवारिक जीवन के बारे में भी कुछ जानने की इच्छा हुई। कई कहानियाँ विश्वविद्यालय परिसर में प्रचलित थीं। कोई कहता था विद्रोही जी का परिवार है, कोई कहता इनका कोई नहीं है। सुनने में यह भी आती थी कि कोई सप्ताह में एक दो बार इनके लिए कुछ भोजन ले आया करती थी और कपड़े बदल जाया करती थी। मैंने किसी से यह कहते तो नहीं सुना कि उसने ऐसा होते देखा हो, लेकिन यह बात भी आम थी कि इनका परिवार भी है। मैंने विद्रोही जी को प्रश्नवाचक निगाहों से देखा और उन्हें अपने बारे में कुछ कहने को प्रेरित किया। विद्रोही जी ने कहना शुरू किया : 'आज मैं खास तौर पर बेहद खुश हूँ। क्योंकि कल खबर आयी है कि मैं दादा बन गया हूँ। डॉक्टर साहब आप इस बात से सहमत होंगे कि जब आपके बच्चों को बच्चा हो जाये तो अपना कर्तव्य पूरा होने का एहसास होता है। मुझे लगता था कि अपनी जिद में मैंने परिवार का अनदेखा किया है। लेकिन इस बात ने मुझे गहरा संतोष दिया है कि मेरे इस जिद के बावजूद मेरा परिवार भी फलता फूलता रहा है।' परिवार के प्रति इतनी संवेदनशीलता देख कर मुझे अच्छा भी लगा और आश्चर्य भी हुआ। उनकी कविताओं में स्त्री विमर्श का राज समझ में आने लगा। 'जो पहली स्त्री जलाई गयी थी, मैं उसे नहीं जानता लेकिन वह मेरी माँ थी। जो आखिरी स्त्री जलाई जायेगी, मैं उसे नहीं जानता, लेकिन वह मेरी बेटी होगी। और मैं ऐसा नहीं होने दूंगा।' इन पंक्तियों में उनका दर्शन भी है और संकल्प भी। उनके चेहरे पर संतोष का एक भाव था। मैं भी उस सुबह को भूल नहीं सकता हूँ। उसके बाद से मेरे रिश्ते विद्रोही जी के साथ बदल गए। उनकी कई पंक्तियाँ मेरे लिए तकिया कलाम का रूप लेने लगीं हैं। कविताएँ जीवन को प्रभावित करती हैं। जीवन को परियोजना समझनेवालों को उनसे सबक लेने की जरूरत है। जीवन कोई प्रोजेक्ट नहीं है।

मैंने उनकी कविताओं का संकलन करना चाहा, लेकिन इस बोलनेवाले कवि की कविताएँ कहाँ मिलेंगी, कुछ समझ नहीं पा था। तभी पता चला कि किसी क्रांतिकारी छात्र संगठन ने उन्हें संकलित कर प्रकाशित भी कर दिया है और बहुत सी बोली हुई कविताएँ यू ट्यूब पर भी उपलब्ध हैं। सचमुच विद्रोही जी एक जनकवि थे। उनकी मृत्यु के बाद जिस तरह से छात्र समुदाय शोकाकुल है उसे देख कर लगता है कि समाज में अभी उम्मीद बची है और उस उम्मीद को जगाये रखने वाला केवल 'विद्रोही' जैसा कवि ही हो सकता है। ऐसे कवि की समाज को जरूरत होती है जो यह कह सके कि 'कबीरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ, जो घर जारे आपनो चले हमारे साथ'। 'कामरेड विद्रोही को लाल सलाम' के नारों से गूंजती उनकी शव यात्रा इस बात का प्रमाण है कि उनका जीवन सफल रहा है। जिस जिद पर वे अड़े थे वह पूरा हुआ है। इस यात्रा में शायद गाँधी की इस बात को वे दुहराते हुए प्रतीत हो रहे थे कि 'मेरा जीवन ही मेरा सन्देश है'।

अभ्युदय सिंह (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

रमाशंकर यादव 'विद्रोही'

नई खेती

मैं किसान हूँ
आसमान में धान बो रहा हूँ
कुछ लोग कह रहे हैं
कि पगले! आसमान में धान नहीं जमा करता
मैं कहता हूँ पगले!
अगर जमीन पर भगवान जम सकता है
तो आसमान में धान भी जम सकता है
और अब तो दोनों में से कोई एक होकर रहेगा
या तो जमीन से भगवान उखड़ेगा
या आसमान में धान जमेगा।

नूर मियां

आज तो चाहे कोई विक्टोरिया छाप काजल लगाये
या ऋतंभरा छाप अंजन
लेकिन असली गाय के घी का सुरमा
तो नूर मियां ही बनाते थे
कम से कम मेरी दादी का तो यही मानना था

नूर मियां जब भी आते
मेरी दादी सुरमा जरूर खरीदती
एक सींक सुरमा आँखों मे डालो
आँखें बादल की तरह भर्रा जाएँ
गंगा जमुना कि तरह लहरा जाएँ
सागर हो जाएँ बुढ़िया कि आँखें
जिनमे कि हम बच्चे झांके
तो पूरा का पूरा दिखें

बड़ी दुआएं देती थी मेरी दादी नूर मियां को
और उनके सुरमे को
कहती थी कि
नूर मियां के सुरमे कि बदौलत ही तो
बुढ़ौती में बितौनी बनी घूम रही हूँ
सुई मे डोरा दाल लेती हूँ
और मेरा जी कहे कि कहूँ
कि ओ री बुढ़िया
तू तो है सुकन्या
और तेरा नूर मियां है च्यवन ऋषि
नूर मियां का सुरमा
तेरी आँखों का च्यवनप्राश है
तेरी आँखें, आँखें नहीं दीदा हैं
नूर मियां का सुरमा सिन्नी है मलीदा है

और वही नूर मियां पाकिस्तान चले गए
क्यूं चले गए पाकिस्तान नूर मियां
कहते हैं कि नूर मियां का कोई था नहीं
तब, तब क्या हम कोई नहीं होते थे नूर मियां के?
नूर मियां क्यूं चले गए पकिस्तान?
बिना हमको बताये
बिना हमारी दादी को बताये
नूर मियां क्यूं चले गए पकिस्तान?

अब न वो आँखें रहीं और न वो सुरमे
मेरी दादी जिस घाट से आयी थी
उसी घाट गई
नदी पार से ब्याह कर आई थी मेरी दादी
और नदी पार ही चली गई
जब मैं उनकी राखी को नदी में फेंक रहा था
तो लगा कि ये नदी, नदी नहीं मेरी दादी कि आँखें हैं
और ये राखी, राखी नहीं
नूर मियां का सुरमा है
जो मेरी दादी कि आँखों में पड़ रहा है
इस तरह मैंने अंतिम बार
अपनी दादी की आँखों में
नूर मियां का सुरमा लगाया।

सफर 35 साल का

जगदीश विद्यार्थी

जगदीश विद्यार्थी, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में सहायक कुलसचिव हैं। उन्होंने अपना एक लम्बा समय इस विश्वविद्यालय को दिया है। प्रस्तुत है, उनके संस्मरण के कुछ अंश।

मैंने जनेवि 03 नवम्बर, 1981 को अपना स्टैनोग्राफर के पद का कार्यभार संभाला था। उसी दिन से जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जनेवि) मेरा सबसे प्यारा, सुन्दर और महत्वपूर्ण स्थान रहा है, आज मैं जिस स्थिति में हूँ उसमें जनेवि का सबसे महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मैंने जो कुछ भी जीवन में पाया है उसमें मेरे परिवार, मेरे दोस्तों एवं रिश्तेदारों के साथ-साथ जनेवि का विशेष योगदान रहा है। जनेवि ने मुझे नये दोस्त दिये जिनके साथ मैंने जीवन के सुख-दुख बांटे और आज तक का सफर तय किया। जनेवि का वातावरण इतना अच्छा है यह, दूसरी जगह जाने पर अहसास होता है। मेरे बच्चों का सम्पूर्ण शिक्षा जनेवि में रहकर हुई और इसके स्वच्छ वातावरण और सुखद माहौल की वजह से आज मेरे बच्चे कामयाब हैं।

शिक्षा एवं शोध के मामले में जनेवि विश्व के प्रमुख विश्वविद्यालयों में गिना जाता है। मैंने भी जनेवि में नौकरी के साथ-साथ उर्दू भाषा में एक साल का सर्टिफिकेट कोर्स किया था क्योंकि जनेवि सभी को अपनी शिक्षा बढ़ोतरी का मौका देता है। जनेवि की पढ़ाई विश्व में सबसे सस्ती होने के बावजूद उत्तम क्वालिटी है। हर साल इस विश्वविद्यालय से 5-8 आईएएस/आईपीएस बनते हैं। यहां की शिक्षा एवं शोध का स्तर बहुत अच्छा है। यह विश्वविद्यालय बहुत ही सुरक्षित है। आप कभी भी निर्भीक आ और जा सकते हैं। इस विश्वविद्यालय का पुस्तकालय राष्ट्रीय अवकाश के अलावा 24 X 7 खुलता है और पूरा पुस्तकालय कम्प्यूटराइज्ड और वातानुकूलित है। यहां का हर स्कूल अपने संसाधनों से परिपूर्ण हैं! यहां पर अनेकों प्रकार की भाषाएं पढ़ाई जाती हैं जिनमें विदेशी भाषाएं भी शामिल हैं। इस विश्वविद्यालय नें देश को बड़े-बड़े इतिहासकार लेखक, राजनेता, वैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक, कार्यकर्ता एवं प्रशासनिक वित्तीय, पुलिस वैदेशिक सेवाओं के लिए आफिसर दिये हैं।

जनेवि में हर साल लगभग दो हजार से अधिक छात्र-छात्राएं प्रवेश परीक्षा के तहत विभिन्न प्रकार के कोर्स जैसे बीए, एमए, एमसीए, एमफिल, एम.टेक. और पीएच.डी. में प्रवेश पाते हैं। भारत सरकार के नियमानुसार सभी वर्गों के छात्रें को प्रवेश मिलता है। विदेशी छात्रें को भी दाखिले की सभी पाठ्यक्रमों में सुविधा है और उन्हें प्राथमिक रूप में छात्रवास मिलते हैं। जनेवि में हर छात्र को कुछ ना कुछ छात्रवृत्ति जरूर मिलती है जैसे एमसीएम, यूजीसी जेआरएफ/एसआरएफ, आरजीएनएफ, एमएनएफ, विशेष स्कॉलरशिप, नॉन नेट आदि जिसकी वजह से छात्रों को अपने माता-पिता से वित्तीय सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। जनेवि में अन्य विश्वविद्यालयों की तरह छात्रावासों की कमी नहीं है। यहां पर छात्र एवं छात्राओं के लिए अलग से छात्रावास हैं। जनेवि की खास बात यह है कि यहाँ पर छात्र, शिक्षक एवं कर्मचारी बड़े सद्भाव के साथ रहते हैं और एक दूसरे का पूर्ण सम्मान करते हैं। जनेवि के समुदाय के स्वास्थ्य के लिए यहां पर जेएनयू स्वास्थ केन्द्र, केन्द्रीय कर्मचारी स्वास्थ्य योजना औषधालय के साथ-साथ योग एवं खेलकूद की सुविधा उपलब्ध है। सभी जनेवि समुदाय की सुविधा के लिए मार्किट और जगह-जगह पर खानेपीने की दुकानें हैं। सभी को रोजमर्रा की वस्तुएं इसी जनेवि परिसर में मिल जाती हैं।

जनेवि लगभग 1020 एकड़ भूमि पर फैला हुआ है। इसमें हरे भर जंगल भी हैं। और इन जंगलों में नील गाय जैसे जानवर और राष्ट्रीय पक्षी बहुतायत में विद्यमान हैं! हरे भरे तरह-तरह के पेड़ हमें शीतलता प्रदान करते हैं। छोटी-छोटी झाड़ियाँ जिनमें विभिन्न प्रकार के फल-फूल लगते हैं इस विश्वविद्यालय की शोभा को और बढ़ाते हैं। जनेवि में शिक्षकों एवं कर्मचारियों को निवास की भी सुविधा है इसलिए इसे आवासीय विश्वविद्यालय भी कहते हैं। पूर्ण दिल्ली में मुझे जनेवि जैसी सुरक्षित एवं प्रदूषण मुक्त जगह कहीं देखने को नहीं मिली। इसके परिसर में प्रवेश करते हैं तो एक अलग सा अहसास होता है। मेरे गाँव वाले और मेरे रिश्तेदारों को जब भी जनेवि आने का मौका मिलता है तो वो इस विश्वविद्यालय की तारीफ करने से नहीं थकते हैं, कहते हैं कि जीवन में अगर स्वर्ग है तो जनेवि में है। लगता नहीं दिल्ली का हिस्सा है। मैंने अपने जीवन के अमूल्य 35 साल जनेवि की सेवा करने में दिये हैं जिसका मुझे गर्व है। पूरा जनेवि एक परिवार की तरह है। स्टैनोग्राफर से नियुक्ति के बाद आज मैं सहायक कुलसचिव के पद पर तैनात हूँ और हरेक पद पर मुझे आदर एवं प्रशंसा मिली है क्योंकि मैं भी सभी जनेवि के स्टाफ को अपना परिवार ही मानता हूँ। इन 35 सालों में मैं कर्मचारी संघ एवं अधिकारी संघ का महासचिव एवं अध्यक्ष भी रह चुका हूँ और कर्मचारियों एवं विश्वविद्यालय के वैलफेयर के लिए काम किया है। प्रो. वाई नायडुम्मा से लेकर प्रो. एम. जगदीश कुमार तक के कुलपतियों के कार्यकाल को देखा है और लगभग सभी कुलपतियों के साथ वार्तालाप करने का मौका मिला है क्योंकि प्रजातंत्र का

जनेवि एक अनोखा उदाहरण है। प्रशासिनक और शैक्षणिक लोगों में एक अच्छा समन्वय है।

जनेवि का प्रदूषण रहित वातावरण जिन्दगी जीने का एक अद्‌भुत स्थान है। अगर मुझे 2018 के रिटायरमेंट के बाद कोई मुझे पूछता है कि आप स्विटजरलैंड रहना चाहते हैं या जनेवि तो मेरा एकटूक जवाब होगा अन्तिम साँस तक जनेवि में।

अन्त में, मैं यह ही कहना चाहूंगा कि जनेवि हर क्षेत्र जैसे सामाजिक, सांस्कृतिक, धर्म निरपेक्षता, पारस्परिक समरसता एवं उच्चतम श्रेणी के लिए अभी तक जाना गया है और भविष्य में भी जाना जायेगा। मैं अपने परिवार सहित जनेवि और इसके छात्रों, शिक्षकों और कर्मचारियों के उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ और भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि :

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्।

सकारात्मक सोचो, मुस्कराओ, आगे बढ़ते जाओ और सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ते जाओ।

जेएनयू का माहौल और वातावरण मुझे बहुत ही अच्छा लगता है।

राम बहादुर थापा

राम बहादुर थापा विश्वविद्यालय के प्रशासनिक भवन में पिछले 32 वर्षों से कार्यरत हैं। प्रस्तुत हैं उनके अनुभव के कुछ अंश।

1979 में मैं दिल्ली में आया था। तब उस समय दिल्ली में आकर मुझे कुछ अजीब–सा लगा जैसे मैं किसी अलग ही दुनिया में आ गया हूँ। उसके बाद 1984 में जेएनयू में मेरी नौकरी लगी। और मुझे बहुत खुशी हुई कि मैं जेएनयू जैसी विश्वविख्यात विश्वविद्यालय का हिस्सा बन गया हूँ। मुझे यहां का माहौल बहुत ही अच्छा लगा। यहां के लोग अर्थात् जेएनयू के स्टाफ मुझे बहुत ही अच्छे लगे। यहां के लोग बहुत ही सहयोगी और अच्छे व्यक्तित्व के हैं। और अब भी ऐसे लोग जेएनयू में मौजूद हैं। जेएनयू में पहले मेरी ज्वाइनिंग एसआईएस में हुई थी, उसके बाद 1985 में मेरी कुलपति कार्यालय में पोस्टिंग हो गई थी। मेरे समय में जितने भी कुलपति आए सभी बहुत ही अच्छे और सज्जन लोग थे। मेरे समय में जो पहले कुलपति थे वो श्री पी.एन. श्रीवास्तव थे। वह बहुत ही अच्छे और नेकदिल व्यक्ति थे। उसके बाद और जितने भी कुलपति आए सभी का स्वभाव मेरे प्रति और मेरा स्वभाव उनके प्रति बहुत ही अच्छा रहा है। जेएनयू के सभी स्टाफ और आफीसर के साथ मेरा बहुत ही अच्छा रिश्ता रहा है। कभी किसी के साथ मेरा मन–मुटाव नहीं हुआ है। यहां का माहौल और वातावरण मुझे बहुत ही अच्छा लगता है। ऐसा माहौल और वातावरण मुझे कहीं नहीं मिलेगा। जेएनयू के साथ मेरा रिश्ता अटूट रहेगा और मुझे हमेशा याद रहेगा। मैं अपने जीवन के इस सुनहरे समय को कभी भुला नहीं पाऊंगा।

हमें अपना राष्ट्रीय कार्य, अपना सार्वजनिक अथवा निजी कार्य जहां तक संभव हो सके अपनी विभिन्न भाषाओं में तथा विशेषतः उस भाषा में करना है जिसे आप सारे भारत में प्रयोग के लिए चुने।

- जवाहरलाल नेहरू

यात्रा वृत्तांत

मेरी पोलैंड यात्रा

शतेन्द्र शर्मा

प्रोफेसर शतेन्द्र शर्मा, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के यूसिक में कार्यरत हैं। वे कवि एवं चित्रकार भी हैं। अभी हाल ही में अपनी पोलैंड की यात्रा से लौटे हैं। प्रस्तुत हैं, उनके संस्मरण के कुछ अंश।

इसी सितम्बर 2016 में दो विभिन्न वैज्ञानिक परिगोष्ठियों में भाग लेने के कारण मेरा पोलैंड व चेक गणराज्य जाना हुआ। मैंने अपनी यात्रा दिल्ली के इंदिरा गाँधी हवाई अड्डे से शुरू की और मास्को होते हुए पोलैंड की राजधानी वारसा पहुँचा। इसके अगले दिन वारसा से हमें परिगोष्ठी आयोजकों की बस लेकर परिगोष्ठी स्थल पर ले जाने वाली थी। परंतु मैं एक दिन पहले ही वारसा पहुँच गया था, जिसके कारण उस दिन मैंने वारसा, जो कि एक द्वितीय विश्वयुद्ध का एक ऐतिहासिक शहर है, घूमने का निर्णय लिया। मैं वहाँ चलने वाली बस द्वारा सारा शहर घूमा। मुख्य तौर पर पुराने वारसा शहर का हिस्सा जो कि वहाँ के वासियों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ज्यों का त्यों संजोकर रखा हुआ है। यह हिस्सा शहर के केन्द्र से कुछ ही दूरी पर था जहाँ मैं पीठ पर बैग लटकाये पैदल ही घूमा। द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मन फौजों ने वारसा शहर को पूरी तरह से तबाह कर दिया था, परंतु उनकी परिश्रम, निष्ठा और लगन के कारण पूरा शहर नये रूप में दोबारा बसा दिया गया। केवल युद्धग्रस्त कुछ हिस्सों को छोड़कर जिसे पोलैंड वासियों ने अपनी बर्बादी के इतिहास के रूप में संजो रखा है, ताकि आनेवाली पीढ़ियों का इसके इतिहास के बारे में बताया जा सके। इस हिस्से में अनेकों कला दीर्घायें, धातु की मूर्तियाँ और संस्थान सजाये हुए हैं। बाकी वारसा सारा शहर बहुत ही सुंदर और पूर्णतः व्यवस्थित है। यातायात की कोई भी असुविधा कहीं भी देखने को नहीं मिली, क्योंकि पूरे शहर में टैक्सी, बसें, ट्राम और भूमिगत मेट्रो रेल व्यवस्था और थल रेलवे व्यवस्था उपलब्ध है। एक शहर से दूसरे शहर जाने के लिए रेल, बस और टैक्सी बहुत ही उचित किराये पर उपलब्ध है। पूरे शहर में हर गली, मोहल्ले में ट्राम और बसों के जाने के कारण लोग अपने वाहनों का बहुत ही कम प्रयोग करते हैं। सितंबर के महीने में वहाँ का तापमान बहुत ही सुखद (लगभग 18 डिग्री के आस-पास) था, जिसके कारण धूप में चलने और बाहर घूमने में कोई परेशानी नहीं थी। वारसा शहर में एक बीस मंजिला प्राचीन इमारत कुतुबमीनार और एफिल टावर की याद दिलाती है। जिसके 20वीं मंजिल के चौबारे पर एक दर्शक दीर्घा बनाई हुई है। वारसा आनेवाले सभी पर्यटक इस इमारत को देखने अवश्य आते हैं। इस इमारत को देखने का 20 लोटे (zlote, पोलैंड की मुद्रा) का टिकट था। यह देखकर मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई कि वारसा शहर में ड्रामा थियेटर और क्रीड़ा उद्यानों में बहुत भीड़ थी, जिससे पता चलता है कि वहाँ के लोगों में इन कलाओं के प्रति बहुत रुचि और लगाव है। किसी भी सड़क के किनारे बगिया और घास के पार्कों में जरा सा भी कूड़ा, सुखे पत्ते या गंदगी देखने को नहीं मिली। जगह-जगह पर हायर ऐंड सेल्फ ड्राइव के लिए कारें उपलब्ध थी। पुराने वारसा शहर में टूर के लिए बच्चों और बुजुर्गों के लिए टायरों वाली सड़क पर चलने वाली एक रेलगाड़ी भी दिखी। जिसमें बच्चे और बुजुर्ग बड़े उत्साह से बैठ रहे थे। कोपरनिकस का म्यूजियम भी वारसा में स्थित है। म्यूजियम के सामने फर्श पर पूरे सौर मंडल के ग्रहों और उपग्रहों को दर्शाया गया है। एक विशेष बात जो मुझे बहुत अच्छी लगी वह यह थी कि पोलैंड वासी अपने कलाकारों, वैज्ञानिकों और देश के लिए किसी भी प्रकार का योगदान करनेवाले व्यक्तियों का बहुत आदर करते हैं और उनके सम्मान में बहुत कुछ करते हैं। वारसा शहर के बाजार भारत के शहरों के मुकाबले खाली थी, क्योंकि वहाँ के बड़े-बड़े मॉल और दुकानों में भीड़ न के बराबर थी, यह शायद इसलिए था कि मैं दिन के समय और सप्ताह के दिन वहाँ था। ऐसा नहीं कि वहाँ फुटपाथ पर सरोजिनी मार्केट और चाँदनी चौक जैसा बाजार नहीं सजता, परंतु वह भी बड़े व्यवस्थित और साफ-सुथरे ढंग से। लोग अपनी कारों में सामान रखकर लाते हैं और एक टेबल पर सजाकर बैठ जाते हैं। और शाम को घर जाते समय सब कुछ समेटकर चले जाते हैं। सड़कों पर किसी प्रकार का कूड़ा नहीं दिखाई देता है। शाकाहारी होने के कारण खाने-पीने की दिक्कत तो वारसा में हुई। परंतु फल, ब्रेड और बर्गर, पिज्जा आदि हर जगह उपलब्ध थे। शाम तक थक कर मैं अपने गेस्ट हाउस आ गया। अगले दिन मुझे केलसे (Kielce) के लिए निकलना था। वारसा हवाई अड्डे पर आयोजकों की बस करीब 12 वैज्ञानिकों को लेकर केलसे के लिए रवाना हुई। बस के चलने से पहले ही हमें सूचित कर दिया गया था कि बस ड्राइवर रास्ते में एक घंटे का आराम करेगा। जो कि वहाँ के नियमों के अनुसार आवश्यक है। बस हमें लगभग 3 घंटे में वारसा से केलसे स्थित भौतिकी संस्थान में ले आयी। जहाँ पर एक स्वागत भोज का आयोजन पहले ही किया हुआ था। यूनिवर्सिटी को देखकर मन अति प्रसन्न हुआ, क्योंकि यह अत्याधुनिक सुविधाओं से युक्त एवं अत्यंत आधुनिक निर्माण तकनीक से बनाई थी। भोज के बाद हम अपने गेस्ट हाउस चले गये और अगले दिन से गोष्ठी का कार्यक्रम आरंभ हुआ, जिसमें अनेकों वैज्ञानिकों ने अपने शोध पत्र प्रस्तुत किये। तीसरे दिन मैंने भी अपना शोध पत्र प्रस्तुत किया। कार्यक्रम के दौरान एक दिन हमें वहाँ की आधुनिक प्रयोगशालाओं में भी घुमाया गया। जहाँ हर प्रकार के आधुनिक

उपकरण और अनुसंधान की सुविधाएं उपलब्ध थीं। एक दिन शाम को सैर के लिए हमें होली क्रास माउंटेन ले जाया गया। यह स्थान केलसे से लगभग 20 किलोमीटर दूर व शहर की सबसे ऊँची पहाड़ी पर स्थित है जहाँ एक प्राचीन चर्च स्थित है, जिसका पोलैंड के इतिहास में बहुत मान्यता है। चर्च के साथ ही एक प्राचीन वस्तुओं का संग्रहालय भी बना हुआ है। जिसमें ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक यंत्र, उपकरण व मिट्टी के बर्तन भी शामिल थे। रास्तें में अनेकों गाँव पड़े जिनके घर भी आधुनिक शैली में बने हुए थे और समस्त सुविधाओं से युक्त थे। प्रत्येक घर में बहुत सारे फूल व फलदायक वृक्ष जैसे सेब, आडू इत्यादि लगे हुए थे। गोष्ठी के आखिरी दिन रात को विदाई भोज का आयोजन किया गया। वह भी एक स्मरणीय भोज था। हालांकि कुछ शाकाहारी लोगों के लिए यह इतना संतुष्टदायक नहीं रहा। अगले दिन हम बस द्वारा केलसे से क्राकोव (Krakow) के लिए दूसरी कार्यशाला के लिए रवाना हो गये। जहाँ केलसे एक छोटा और कम आबादी वाला शहर है वहीं क्राकोव पोलैंड का बहुत बड़ा औद्योगिक एवं व्यापारिक शहर है। क्राकोव शहर में अनेकों सरकारी और प्राइवेट विश्वविद्यालय है जहाँ पूरे विश्व से आये हुए छात्र अनेकों विषयों में शिक्षा ग्रहण करते हैं। केलसे की तरह यहाँ भी यगलियोन यूनिवर्सिटी के भौतिकी संस्थान में कार्यशाला के कार्यक्रम थे। यगलियोन यूनिवर्सिटी पोलैंड की प्राचीन यूनिवर्सिटी है जिसका लगभग 600 वर्षों का इतिहास है। परंतु अब यह अपने पुराने परिसर से अलग होकर एक नए विज्ञान विषय के परिसर में स्थानान्तरित कर दी गई है। पहले दिन हमें यूनिवर्सिटी के इतिहास से परिचय कराने के लिए यूनिवर्सिटी में बनाये गये यूनिवर्सिटी के इतिहास के संग्रहालय में ले जाया गया। इस संग्रहालय में प्राचीन राजाओं के जमाने से यूनिवर्सिटी की स्थापना से अब तक के सारे महत्वपूर्ण क्रियाकलापों, नोबल विजेताओं और महत्वपूर्ण लोगों के लेख और अर्द्ध प्रतिमाएं रखी हुई थीं। कार्यशाला के दौरान शाम को शहर घूमने का अवसर प्राप्त हुआ और देखा कि शहर में सड़क के किनारे अनेकों प्रदर्शनियाँ लगी हुई हैं। लोग बहुत उत्साहित होकर हर प्रदर्शनी को देखने में पूरी रुचि रखते हैं। शहर की गलियाँ और बाजार बहुत साफ और किसी भी अवैधानिक कब्जे से मुक्त थे। शहर के बीचो बीच हिस्सा जिसे सेंट्रम कहते हैं वहाँ बहुत चहल-पहल थी और लगभग मेला सा लगा था। इस हिस्से में आज भी बग्घी की सवारी का आनंद लेने विश्व भर से पर्यटक आते हैं। यह देखकर अत्यंत हैरानी हुई कि एक फोटोग्राफर ने भारतीय चित्रों की प्रदर्शनी लगाई हुई थी। कार्यशाला की एक शाम आयोजकों ने लगभग 10 किलोमीटर दूर स्थित एक नमक की खान का भ्रमण कराया। यह नमक की खान भूतल से लगभग 1 किलोमीटर नीचे थी। हमलोग सीढ़ियों द्वारा नीचे गये। हमारे अंग्रेजी भाषी समूह के साथ एक गाइड लड़की थी जो अंग्रेजी में खान के बारे में बता रही थी। हम सभी को कानों में लगाने के लिए हेड फोन दिया गया था, जिसमें हम केवल अंग्रेजी भाषा वाले गाइड की आवाज सुन सकते थे। उसी समय खान में अनेकों भाषाओं के गाइड उपलब्ध थे जो अपने समूहों को उनकी ही भाषाओं में संबोधित कर रहे थे। सीढ़ियों द्वारा नीचे जाना सचमुच थका देने वाला काम था, परंतु नीचे जाकर जो देखा उससे सारी थकान मिट गई। यदि यह खान भारत जैसे देशों में होती तो इसके बंद होने के बाद इसको कब का मिट्टी अथवा पानी से भर दिया गया होता, परंतु पोलैंड वासियों ने उनको एक पर्यटक स्थल का रुप देकर लगभग 700 साल पुरानी इस खान को भी एक व्यापारिक व आमदनी का स्रोत बना लिया है। क्राकोव आने वाला हर पर्यटक इस खान को देखने आता है और इसकी टिकट और अन्य मदों पर खर्च कर पोलैंड के व्यापार में अपना योगदान देता है। खान के अंदर नमक के पत्थरों की अनेकों मूर्तियाँ, कलाकृतियाँ व चलित मॉडल बनाये हुए हैं। यह देखकर अत्यंत आश्चर्य होता है कि इतनी गहराई के नीचे भी नमक की पानी की झीलें स्थित है। इन झीलों को उस समय चट्टानों के नमक को पानी में घोलकर उस घोल को रेहट द्वारा ऊपर पहुँचाया जाता था जहाँ पानी सुखाकर नमक तैयार किया जाता था। हमें बताया गया कि सन् 1300 के आसपास नमक ही यहाँ के शासकों का मुख्य आमदनी का स्रोत था। इस खान के नीचे एक तल पर एक बहुत बड़ा चर्च भी बना हुआ है जिसमें क्राइस्ट और अनेकों देवताओं की नमक की चट्टानों द्वारा निर्मित मूर्तियाँ बनाई गई हैं जो कि अत्यंत दर्शनीय है। क्योंकि खान में चारों तरफ नमक के पत्थर हैं और नमक की झीलें हैं जिसके कारण वहाँ के वायुमंडल में नमक की अधिकता से कुछ लोगों को साँस लेने में कठिनाई भी होती है। अगले दिन यगलियोन यूनिवर्सिटी के प्रयोगशालाओं का भ्रमण कराया गया। जहाँ हमने अत्याधुनिक उपकरणों का जायजा लिया। अगले दिन विदाई भोज के साथ ही कार्यशाला संपन्न हुई।

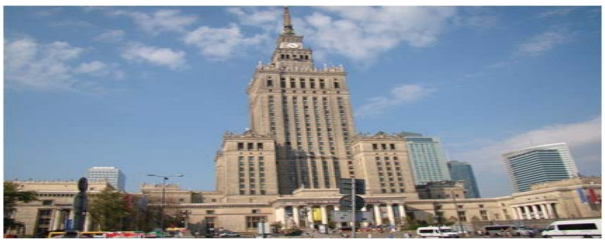

वारसा का प्रसिद्ध सांस्कृतिक व वैज्ञानिक मीनार

चौराहों पर लगी एक उत्कृष्ट प्रतिमा

हिंदी साहित्य और जेएनयू समाज

एक सर्वेक्षण

संयोजक : कविता पासवान, संजय कुमार

पिछले दिनों जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में भारतीय भाषा केंद्र के एम.फिल. (प्रथम वर्ष) के छात्रों ने विश्वविद्यालय के समाज में हिंदी साहित्य की स्थिति को लेकर छात्रों, शिक्षकों और कर्मचारी सदस्यों के बीच एक सर्वेक्षण किया। सर्वेक्षण के लिए छात्रों को तीन समूहों में बांटा गया और इन तीनों समूहों का सर्वेक्षण क्षेत्र था छात्र समाज, शिक्षक और प्रशासनिक कर्मचारी। सर्वेक्षण में 'हिंदी साहित्य की स्थिति' को लेकर सभी सदस्यों से कुल पांच प्रश्न पूछे गए 1. साहित्य क्या है? 2. हिंदी साहित्य के कुछ लेखकों के नाम बताएं? 3. हिंदी साहित्य के कुछ लेखकों की कृतियों के नाम बताएं? 4. आपको कौन-सी रचना प्रिय लगती है? 5. उस रचना के बारे में बताएं?

सर्वेक्षण एक : छात्र समाज

पहले समूह के सदस्यों के सर्वेक्षण पत्र के आधार पर 'गैर-हिंदी छात्रों के बीच हिंदी साहित्य की स्थिति क्या है? पर एक रिपोर्ट तैयार किया जिसमें 'साहित्य की परिभाषा' पर अधिकांश छात्रों ने कुछ अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए तो कुछ 'साहित्य समाज का दर्पण है' की पुनरावृत्ति करते हैं। जो कमोबेश एक मूलभूत परिभाषा का निर्माण करता नजर आता है। कुछ बीज शब्द या कुंजी शब्द जैसे गद्य, पद्य, काल, विचार, समय, समाज और प्रस्तुति आदि सर्वेक्षण में भाग लेने वाले प्रत्येक छात्रों के विचारों में लगभग झलकता है। निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि साहित्य की पारिभाषिक समझ व्यापक है; किन्तु विशेष नहीं। लेखकों के नाम की जानकारी के प्रश्नोत्तर में एक तथ्य पूर्णतः स्पष्ट है कि सभी छात्र 'प्रेमचंद' को एक लेखक के रूप में अवश्य जानते हैं तथा उनकी किसी-न-किसी रचना चाहे वह कहानी हो या उपन्यास को अवश्य पढ़ा है और प्रायः ये रचनाएँ उनकी मनपसन्द कृतियों में भी शामिल दिखती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ छात्रों ने स्त्री-लेखिकाओं और दलित लेखकों का भी नाम बताया। इसका अर्थ यह है कि अब दलित साहित्य भी हिंदी साहित्य के अस्मितामूलक-विमर्श से आगे बढ़कर अन्य संकायों या केन्द्रों के छात्र-छात्राओं के बीच अपनी पैठ बनाने में कामयाब हो रहे हैं। शायद दिन-ब-दिन हो रहे सामाजिक परिवर्तन भी इसका एक मुख्य कारण हो सकता है। तीसरे प्रश्न में जब कुछ कृतियों के नाम पूछे गए तो प्रेमचंद के *'गोदान'* का उल्लेख सबने किया, अर्थात् प्रेमचंद और उनकी कृति *'गोदान'* से प्रायः सभी परिचित दिखते हैं। उनकी जानकारी में वैविध्य भी है, और संतुलन भी, लेकिन कुल मिलाकर *'गोदान'* के प्रेमचंद ने केवल हिंदी कथा-साहित्य(उपन्यास) की कर्मभूमि ही नहीं बदली बल्कि उसका कायाकल्प भी किया और इसी कारण वे लोकप्रिय या सर्वप्रिय हैं। 'आपकी प्रिय रचना' के प्रश्न के उत्तर में अधिकतर छात्रों ने प्रेमचंद के *'गोदान'* और उनकी अधिकांश कहानियों के नाम बताएं। इसके अतिरिक्त छात्रों ने हरिवंशराय 'बच्चन' के *'मधुशाला'* का नाम लिया। छात्रों का कहना था कि हमें यह रचनाएँ इसलिए याद है क्योंकि हमने 12वीं तक के पाठ्यक्रम में शामिल इन रचनाओं को पढ़ा है। सर्वेक्षण पत्र में कुछ छात्रों ने 'पता नहीं' और 'याद नहीं' का जबाव दिया। 'पता नहीं' और 'याद नहीं' का उत्तर प्रायः विदेशी भाषा केन्द्रों में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं से प्राप्त हुआ। इससे यह ज्ञात होता है कि हिंदी साहित्य उन लोगों के लिए केवल पाठ्यक्रम तक ही सीमित होकर रह गयी है या फिर पाठ्यक्रम में शामिल होने कि वजह से उनके लिए हिंदी साहित्य पढ़ना एक मजबूरी हो गयी है। 'रचना के बारे में' प्रश्न में पूछे जाने पर छात्र-समुदाय ने विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर उस रचना का विश्लेषण किया। जिसकी परिभाषा उन्होंने समाज की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विसंगतियों, असमानता और वैविध्यता के आधार पर दिया। चूँकि प्रश्न का दायरा विस्तृत था, अतः उत्तर का दायरा भी विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर विस्तृत था। जिसमें मानव-जीवन की विसंगतियों, वेदनाओं, शोषण, नारी-जीवन की समस्याओं और नारी-पुरुष के संबंधों की जटिलताओं को आधार बनाकर लिखी गयी कृतियाँ शामिल है।

सर्वेक्षण दो : अध्यापक समाज

दूसरे समूह के समस्त सदस्यों के सर्वेक्षण पत्र के आधार पर जेएनयू में शिक्षकों के मध्य 'हिंदी साहित्य' की स्थिति को देखने, समझने का प्रयास किया गया है। 'साहित्य क्या है?' इस प्रश्न को शिक्षकों ने कुछ इस प्रकार से व्याख्यायित किया। जैसे बद्री नारायण के अनुसार 'सामाजिक व आध्यात्मिक अनुभवों की मन में जो प्रक्रिया होती है, जब वह लेखन में आता है तो उसे साहित्य कहा जाता है।' डॉ. गिरीशनाथ झा "किसी भी मनुष्य के व्यक्तिगत अनुभवों का लेखा-जोखा है जो किसी प्रयोजन से लिखा जाता है। यह मानव, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, एक बड़े समुदाय को समेटा हुआ है। साहित्य को मुख्य रूप से प्रगतिशील व विध्वंसक साहित्य में बांट कर देख सकते है।" ताहिर असगर

"Human feeling, Relations, Creativity को जिसके अंतर्गत व्याख्यायित किया जाता है, वह साहित्य है।" अरुण मोहन्ती

"Literature should be Reflection of society"। इसके अतिरिक्त कुछ शिक्षकों ने साहित्य के बारे में कहा कि साहित्य समाज और मनुष्य की मिली-जुली पूर्व और समकालीन अनुभूतियों का विस्तृत फलक है जिसमें गद्य और पद्य दोनों ही मिलते हैं। वहीं डॉ. सत्यमूर्ति जैसे शिक्षक साहित्य को 'समग्रता' में देखने के पक्षधर हैं और उनका मानना है कि 'साहित्य में केवल शब्द और अर्थ की ही समग्रता नहीं होती है बल्कि वह जीवन के अनेक क्षेत्रों से संबंधित अनुभवों की समग्रता भी होती है यही कारण है कि साहित्य मस्तिष्क पक्ष के ऊपर जाकर हृदय पक्ष को स्पर्श करता है।' जहाँ कुछ शिक्षक साहित्य के बारे में विस्तृत समझ रखतें हैं वहीं दूसरी ओर शिक्षकों का एक बड़ा समूह 'नो आईडिया अबाउट लिटरेचर' या 'डोंट नो अबाउट लिटरेचर' कहकर साहित्य को दरकिनार कर देते हैं। लेखकों के नाम की जानकारी के प्रश्नोत्तर में अधिकांश शिक्षक 'प्रेमचंद' के नाम से परिचित हैं इसके बाद वे मुक्तिबोध, फणीश्वरनाथ रेणु, कबीर, तुलसी, हरिवंशराय बच्चन, मैनेजर पाण्डेय, डॉ. तुलसीराम आदि प्रमुख रचनाकारों की बात करते नजर आते हैं। तीसरे प्रश्न में जब शिक्षकों से कुछ कृतियों के नाम पूछे गए तो प्रेमचंद के 'गोदान' का उल्लेख लगभग सभी ने किया। कुछ शिक्षकों ने *मुर्दहिया, मणिकर्णिका, मैला आंचल, जूठन, अंधेरे में* आदि कृतियों के भी नाम बताएं। अतंतः कहा जा सकता है कि डॉ. मैनेजर पाण्डेय, डॉ. तुलसीराम या डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल जैसे लेखकों की कृतियों के बारे में शिक्षकों को ज्ञान इस वजह से भी हो सकता है कि वे सभी जेएनयू में प्राध्यापक भी रह चुके हैं। 'प्रिय रचना के बारे' में पूछने पर उन्होंने *जूठन, मुर्दहिया* और कालिदास की रचनाओं का नाम लिया और जब उस रचना के बारे में पूछा गया तो उन्होंने बताया कि *'मुर्दहिया'* दलित जीवन के त्रासदी की आत्मकथा है, वहीं *'जूठन'* समाज में फैले जाति-व्यवस्था के कारण हो रहे शोषण को, समाज की नंगी सच्चाई को दिखलाता है। सर्वेक्षण के दौरान कुछ ऐसे शिक्षकों से भी सामना हुआ जिन्होंने यह कहकर टाल दिया कि ना तो मुझे हिंदी साहित्य पसंद है और ना मैं साहित्य पढ़ना चाहता। इस कारण मैं इस सर्वेक्षण में आपकी कोई मदद नहीं कर सकता हूँ। लेकिन कुछ ऐसे भी शिक्षक हैं जिन्हें हिंदी समझ में नहीं आती है फिर भी वह साहित्य पढ़ना चाहते हैं। ऐसी जिज्ञासा उन शिक्षकों में देखी जा सकती है जो विदेशी हैं या फिर विदेशी भाषा केन्द्रों या विभिन्न केन्द्रों में अध्यापनरत हैं।

सर्वेक्षण तीन : प्रशासनिक कर्मचारी

तीसरे समूह के सदस्यों के सर्वेक्षण पत्र में साहित्य के बारे में ज्यादातर लोगों का कहना है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। जो समाज की सच्चाई को पाठकों तक पहुँचाता है। कुछ लोग साहित्य को नैतिक शास्त्र के रूप में परिभाषित करते हैं, जिनका मूल तत्व था कि साहित्य मानवता की वकालत करता है। एक तरफ कुछ कर्मचारियों का मानना है कि मानव प्रेरणा का स्वरूप ही साहित्य है अथवा साहित्य समाज को परिवर्तित करने की क्षमता रखता है। यानी कहीं-न-कहीं इन लोगों का मानना है कि साहित्य जीवन मूल्य को बताता है तथा हमारी चेतना को परिष्कृत करता है। तो दूसरी तरफ कुछ कर्मचारी मानते हैं कि साहित्य के बिना मनुष्य अधूरा है। साहित्य मनुष्य को संवेदनशील बनाता है। अथवा आजकल साहित्य का राजनीतिकरण हो गया है। इन लोगों का कहना कुछ हद तक सही भी है क्योंकि आज के साहित्यकार और आलोचक दलीय प्रतिबद्धता से ग्रसित हो गए हैं। पुरस्कार वितरण में हो या सृजन में हर जगह प्रतिबद्धता हावी हो गयी है जिससे साहित्य कमजोर हो रहा है। अन्ततः इन लोगों की परिभाषा में साहित्य भाषा की गरिमा है। जिससे हमारा अस्तित्व परिभाषित होता है। साहित्य संस्कृति को संरक्षित करता है। संस्कृति समाज की रीढ़ होती है। जब तक हम संस्कृति को नहीं जानेंगे तब तक हम किसी समाज को नहीं जान पाएंगे। संस्कृति ही किसी भी समाज की अस्मिता की पहचान होती है। इस प्रकार साहित्य का जो अपना धर्म है, वही मनुष्य के समाज की बुनियाद है। जो भी वाणी समाज में 'परस्पर भाव' को मजबूत करती है वही साहित्य है। साहित्य संसार की तमाम कुरीतियों से होड़ करते हुए लोकमंगल के ऊँचे आदर्श की ओर अग्रसर होती है। सर्वेक्षण के दूसरे प्रश्न 'लेखकों के नाम' में सभी के जवाब में प्रेमचंद मौजूद हैं। दूसरे सबसे ज्यादा वर्णित लेखक छायावादी हैं। हरिवंशराय बच्चन का नाम भी ज्यादातर लोगों ने लिया। सबसे अधिक दुःख की बात यह है कि किसी ने भी स्वातंत्र्योत्तर लेखकों का नाम नहीं लिया। 'कुछ कृतियों के नाम' प्रश्न में सबसे अधिक *गोदान, रामचरितमानस, कामायनी, चन्द्रकान्ता सन्तति, महाभारत, गुनाहों के देवता* आदि कृतियों का नाम कर्मचारियों ने बताया। 'प्रिय कृति' के प्रश्न में अधिकांश कर्मचारियों ने *रामचरितमानस, महाभारत, गोदान, गुनाहों का देवता* को अपनी प्रिय रचना बताया। *रामचरितमानस* के बारे में वे खूब चर्चा करते हैं और कहते हैं कि यह मानव समाज के कल्याण की बात करता है और इससे भारतीय संस्कृति की जानकारी प्राप्त होती है। *'गोदान'* के बारे में कहते हैं कि किसान जीवन के त्रासदी की कहानी है। इसे पढ़कर ऐसा लगता है कि यह मेरी ही कथा है। 'गुनाहों का देवता' की कथा ग्रामीण परिवेश में पलने वाले प्रेम की कथा है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि जेएनयू में हिंदी साहित्य की स्थिति को लेकर विभिन्न क्षेत्रों में जो सर्वेक्षण किया गया उसमें 'साहित्य की परिभाषा' को लेकर प्रायः अधिकांश छात्रों और कर्मचारियों के विचार समान हैं, जबकि शिक्षकों ने साहित्य को विभिन्न विचारों से परिभाषित किया। उनके अनुसार साहित्य भावनाओं, विचारों तथा चिन्तन की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है जिससे हम समाज निर्माण का कार्य करते हैं। इसका लक्ष्य समाज को अच्छा बनाना और जोड़ना है। जो समाज को तोड़े और घृणा पैदा करे वह साहित्य नहीं हो सकता है। कुछ शिक्षकों ने हिंदी साहित्य के बारे में जिज्ञासा न प्रकट करते हुए कहा कि आज के साहित्य में भी समस्यामूलक बातों को ही केंद्र में रखा जा रहा।

अन्य साहित्य की तरह इसमें मनोरंजन की बातें नहीं की जाती हैं। मनोरंजन की बातें न होने के कारण ही आज हिंदी साहित्य खतरे में नजर आ रहा है। अगर साहित्य को खतरे से निकालना है तो मनोरंजनपूर्ण साहित्य लिखने की जरूरत है। जहाँ तक मेरा मानना है कि मनोरंजन ही साहित्य का आधार नहीं हो सकता है। हिंदी साहित्य ही क्या कोई भी साहित्य केवल मनोरंजन को लेकर आगे नहीं बढ़ सकता है, बल्कि हमें साहित्य को एक बृहद परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है। फिर भी हम कह सकते हैं कि छात्रों और कर्मचारियों के परिप्रेक्ष्य में शिक्षकों के यहाँ साहित्य की समझ की स्थिति अच्छी है। जबकि छात्रों और कर्मचारियों ने एक रटी-रटाई परिभाषा जैसे कि 'साहित्य समाज का दर्पण है' कहकर साहित्य को सीमित कर दिया है। अतः कहा जा सकता है कि ज्यादातर छात्रों, शिक्षकों और कर्मचारियों की रुचियाँ मानव-जीवन के विभिन्न परिस्थितियों में दिखती है। कुल पांच प्रश्नों को आधार बनाकर 26 सर्वेक्षणकर्ताओं द्वारा हिंदी साहित्य के छात्रों से इतर विभिन्न केन्द्रों में अध्ययनरत छात्र, शिक्षक और कार्यरत कर्मचारियों के बीच किए गए इन सर्वेक्षणों से यह ज्ञात होता है कि गैर हिंदी साहित्य के छात्रों, शिक्षकों और कर्मचारियों का भी विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आंदोलनों के फलस्वरूप हिंदी साहित्य और हिंदी साहित्य के विभिन्न विधाओं के लेखकों और उनकी कृतियों के प्रति रुझान बढ़ा है। जो हिंदी साहित्य के नवोदित लेखकों के लिए 'राजमार्ग' प्रशस्त करती है।

सर्वेक्षणकर्ता : कविता पासवान, सुमित कुमार चौधरी, केन्टर इंगो, मोनिका, शिवानी यादव, शकीला, कुमारी प्रतिभा, नेहा राव, माली सरिता रामसूरत, दीपिका दत्त, अपर्णा वर्मा, संजय कुमार, कामना सिंह, अर्चना यादव, रचना, नारा यून, रामभवन यादव, कुमारी लक्ष्मी जोशी, अभिषेक सौरभ, सविता शर्मा, कुमारी मेनिका सिंह, साधना वर्मा, राज कुमार, प्रतिमा यादव, गौरव भारती, चौताली सिन्हा।

अनघा पाण्डे, (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

लेख

बदलते व्यवस्था के आइने में किसान जीवन

सरफराज अहमद

सरफराज अहमद जेएनयू के पूर्व शोध छात्र हैं। सामाजिक गतिविधियों में उनकी गहरी दिलचस्पी है। प्रस्तुत है, किसान जीवन से संबंधित उनका यह लेख।

भारत की कुल जनसंख्या के अनुपात में देखा जाये तो ग्रामीण जनसंख्या दो-तिहाई है। कुल आबादी का दो-तिहाई हिस्सा अपने जीवन की तमाम जरूरतों के लिए कृषि पर निर्भर हैं। कृषि केवल अर्थोपार्जन का ही माध्यम नहीं हैं, बल्कि यह समाज, परिवार, धर्म, आचार-विचार के साथ-साथ राजनीति को भी प्रभावित एवं नियंत्रित करती है। भारत के सामाजिक संदर्भ में कृषक उत्पादक ही नहीं है, बल्कि वह सृजनकर्त्ता व पालनकर्त्ता भी है। उसका उत्पादन कार्य धार्मिक विश्वास से जुड़ा हुआ है, तो मानवीय सामाजिक मूल्य से भी अलग नहीं है। किसान का जितना गहरा संबंध जमीन से है, उससे भी गहरा संबंध मेहनत से है। इन दोनों तत्वों के जुड़ाव से ही किसान जीवन अपनी सार्थकता को प्राप्त करता है।

भारत में औपनिवेशिक शासन व्यवस्था के पहले कई शासक, बदले; परन्तु गाँव की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में बहुत ज्यादा परिवर्तन नहीं आया। मगर अंग्रेजी राज्य की स्थापना ने बहुत कुछ बदल दिया। अंग्रेजी शासन के दौरान अपनायी गई आर्थिक नीतियों ने भूमि संबंधों में काफी फेर-बदल किया। भू-सम्पति परम्परा से चले आ रहे जमींदारों के हाथों से निकल कर उन सौदागरों, या यूं कहें कि नवधनाढ्यों के पास चली गई, जोकि शहर में रहते थे और गाँव की जनसंख्या के प्रति कोई सहानुभूति नहीं रखते थे। औपनिवेशिक शासन तंत्र ने नये जमींदारों को मजबूती प्रदान की। साथ ही इस दौर में साहूकारों, महाजनों, ठेकेदारों के रूप में बिचौलियों का एक वर्ग भी तैयार हो गया था। जमींदारों को प्राप्त अधिकार ने उन्हें एक ऐसी मजबूत स्थिति पर ला खड़ा किया, जिससे वे कृषि के साथ-साथ समाज के हर वर्ग पर अपना प्रभाव रख सके। इन अधिकारों ने जमींदारों को बेलगाम कर दिया। उन्होंने शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार, लगान वसूली व बेदखली जैसे हथकंडे अपनाए। साथ ही मुगलों के शासन काल में कारीगरी एवं शिल्पकारी के बढ़ावे ने जो मजदूर वर्ग को रोजगार उपलब्ध कराया था, भारतीय उद्योगों के नष्ट होने से वह वर्ग एक बार फिर कृषि पर निर्भर हो गया। लगान के स्वरूप को नकदी लगान में बदल दिया गया। लगान के स्वरूप के नगदीकरण में बदल जाने से किसान सीधा बाजार से बंध गया। शासन एवं जमींदारों की खेती से जुड़ी अनिश्चितता समाप्त हो गई। यह पूरी की पूरी व्यवस्था किसानों के शोषण के हथियार के रूप में उभरी। आँकड़े बताते हैं के 1901 ई. से 1951 ई. के दौरान कृषि कार्य में लगे मजदूर वर्ग की जनसंख्या का अनुपात 62.4 प्रतिशत से बढ़कर 69 प्रतिशत हो गया था। किन्तु राष्ट्रीय आय में कृषि क्षेत्र का हिस्सा जहाँ 1901 ई. - 1904 ई. में 63.6 प्रतिशत था वहीं 1946-1947 में यह घटकर 46 प्रतिशत रह गया। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि कृषि क्षेत्र में लोगों की आय घटी। 20वीं शताब्दी में प्रेमचंद द्वारा लिखे गए उपन्यासों के पात्र भारतीय औपनिवेशिक खेतीहर समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस बात के प्रमाण के रूप में 'गोदान' के 'होरी' एवं 'कफन' के 'घीसु' व 'माधव' को देखा जा सकता है। ये सभी औपनिवेशिक समाज की त्रासदियों को अभिव्यक्त करते हैं। ये पात्र सामाजिक उत्पीड़न, राज्य के शोषण एवं धार्मिक व वर्गीय घेराबंदी के बीच सांस ले रहे हैं।

इस पूरी व्यवस्था ने भारतीय समाज को दो बड़े वर्गों में बांट दिया - एक जमीनों के मालिकों एवं दूसरे किसान। जमींदारों के अन्याय व शोषण ने किसानों के अंदर विद्रोह की आग भर दी। ब्रिटिश शासन के समय से ही किसान विद्रोह का एक लम्बा इतिहास रहा है, जो आज भी किसी-ना-किसी रूप में बना हुआ है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान राष्ट्रीय नेतृत्व ने यह महसूस किया कि ग्रामीण भारत की जनता का साथ लिए बिना खासतौर से किसानों को अंग्रेजी साम्राज्यवाद से लड़ना एवं सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है। जब-जब राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन और किसान आन्दोलन एक साथ होकर साम्राज्यवाद से भिड़े तब-तब आंदोलन की शक्ति, क्षमता कई गुना ज्यादा बढ़ गई। किसानों के सहयोग ने 1920 से लेकर 1942 तक के राष्ट्रीय आन्दोलनों को हिन्दी पट्टी में जन आन्दोलन का रूप दिया। कांग्रेसी अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए किसान एवं ग्रामीण जन का इस्तेमाल तो करते; परंतु सामंतवाद के खिलाफ उनकी लड़ाई में साथ नहीं देते थे। उल्टे संघर्ष को दबाने में योगदान देते थे। "कांग्रेस चाहे स्वराजी हो या अपरिवर्तनवादी, उनके जमींदारों अथवा मझोले जोतधारियों के साथ दृढ़ संबंध होते थे, और इस कारण वे किसानों की मांगों के प्रति प्रायः उदासीन रहते थे।"[1] भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दौरान नेताओं ने ग्रामीण जनता को साम्राज्यवादी ताकतों को भगाने के लिए अपने साथ जोड़ा। वामदल भी किसान-मजदूर एकता के नाम पर ग्रामीण जनता को अपने साथ जोड़कर रखा; परंतु, कांग्रेस और वामपंथ दोनों ही पार्टियां कृषक-मजदूर के सवालों से बचती रही। कांग्रेस को खतरा था कि जमींदार वर्ग उससे अलग हो जाएगा, और वामदल किसान-मजदूर एकता के नाम पर कतराती रही। जिस देश की बहुसंख्यक आबादी गाँवों में रहती है, उस देश के लिए आज़ादी व गुलामी का सीधा रिश्ता गांवों में रहने वाले लोगों व उनके पेशों से जुड़ता है। 15 अगस्त सन् 1947 में मिली ब्रिटिश उपनिवेशवाद से स्वतंत्रता से सबसे ज्यादा उम्मीद इसी कृषक वर्ग

को थीं; क्योंकि अब तक के शासन एवं उनकी नीतियों से सबसे अधिक शोषित व पीड़ित कृषक वर्ग ही था। आज़ादी के बाद भी ब्रिटिश उपनिवेश से जुड़े सांमत और पूंजीपतियों का प्रभाव स्वदेशी शासन पर कायम रहा, जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्र भारत में कृषक समाज एक बार फिर उपेक्षित होने लगा। रेणु ने अपने उपन्यास 'मैला आँचल' में कांग्रेस के बदलते चरित्र, जनविरोधी रूख तथा पार्टी में सांमतों एवं पूंजीपतियों के बढ़ते प्रभाव को चिन्हित किया है। रेणु ने आजादी के बाद राजनीतिक दलों में दोनोंदिन बढ़ते नैतिक और सैद्धान्तिक खोखलेपन को भी उजागर किया है। साथ ही गाँव के लोगों की निर्धनता, अशिक्षा एवं पिछड़ेपन आदि का भी चित्रण किया है।

सामाजिक और आर्थिक जीवन में सकारात्मक बदलाव के प्रयास के रूप में सन् 1949 में सरकार ने जमींदारी उन्मूलन कानून लागू किया। सरकार ने इस कानून की घोषणा जितनी सरलता से कर दी, उसका वास्तविक धरातल पर प्रयोग उतना आसान नहीं था। सन् 1956 तक यह कानून भारत के ज्यादातर राज्यों में पास किया जा चुका था; परंतु इसे लागू करने में एक बड़ी समस्या भूमि संबंधी पर्याप्त आंकड़ों का अभाव था। "देश के विभिन्न हिस्सों में जिस प्रकार जमींदारी उन्मूलन कानून लागू किया, उसमें कुछ महत्वपूर्ण खामियां रह गयी। उदाहरण के लिए यूपी में जमींदारों को वे जमीनें अपने पास रखने की इजाजत दे दी गई, जिन्हें उन्होंने अपनी 'व्यक्तिगत खेती' घोषित की थी। इसके अलावा, यूपी, बिहार और मद्रास जैसे राज्यों में 'व्यक्गित खेती' की कोई सीमा नहीं थी।"[2] जमींदारी उन्मूलन के समकक्ष व्यावहारिक समस्या यह भी थी कि कई क्षेत्रों में खेती बटाई पर देने का काम मौखिक तौर पर होता था, इसका कोई लिखित दस्तावेज तैयार नहीं किया जाता था। दूसरी समस्या, जमींदारों एवं राजस्व अधिकारियों के मध्य सांठगांठ की थी, जिसके कारण कानून को सही ढंग से लागू करना और भी मुश्किल हो गया। इसके परिणामस्वरूप भारत में भूमिहीनों की समस्या बनी रही जो कुल जनसंख्या का लगभग आधा हिस्सा है। जमींदारी उन्मूलन कानून और उसे लागू करने में जो कमियां थी उसका उल्लेख मिथिलेश्वर अपने उपन्यास 'माटी कहे कुम्हार से' में करते हैं। मिथिलेश्वर यह मानते हैं कि सरकार के लचर रवैये के नाते ही जमीन के विवाद उठ खड़े हुए हैं। फाइलों और दस्तावेजों में कानून को शक्ल तो दे दी गई; परंतु, उसे जमीनीं स्तर पर लागू करने में सरकार विफल रही। मिथिलेश्वर कहते हैं - "सारी समस्या की जड़ हमारी सरकार है। कागज पर कानून बना देती है। लेकिन जमीन पर फैसला नहीं कराती। अब लोग एक-दूसरे से लड़ें नहीं तो क्या करें? जिस दिन सरकार चाह ले, ऐसी लड़ाई किसी गाँव में नहीं होगी।"[3]

भारत में कृषि संबंधों में लगातार चला आ रहा असंतुलन आजादी के बाद के भूमि सुधारों के उपायों से भी नहीं दूर हो पाया। भूमि संबंधों की इस विषमता ने नक्सलवादी आंदोलन को जन्म दिया। इसकी शुरुआत 23 मार्च सन् 1967 ई. में पश्चिम बंगाल के नक्सलवादी क्षेत्र में कृषकों के सशस्त्र विद्रोह से हुई। यह आंदोलन आजादी के बाद किसानों की उपेक्षा एवं भूमि सुधारों के उपेक्षित परिणाम ना निकलने से जो मोहभंग पैदा हुआ उसकी अभिव्यक्ति है। नक्सलवादी आंदोलन ने कृषि और उससे जुड़े किसान एवं उसकी समस्याओं को मुख्यधारा के विचार-विमर्श के केन्द्र में ला दिया। आखिर सवाल यह पैदा होता है कि किसानों ने हिंसक संघर्ष का सहारा क्यों लिया? लम्बे विदेशी शासन के बाद आजाद भारत की सरकार ने किसान-जीवन में बदलाव के लिए एवं भूमि संबंधों में सुधार के लिए जो कानून बनाए वह पहले तो स्वयं आधे-अधूरे थे, उनके क्रियान्वयन में भी काफी ढीला-ढाला रवैया रहा। कानूनों को लागू करने के बाद सरकार ने इसे अपनी उपलब्धियों में तो गिन लिया, परंतु वास्तविक धरातल पर शोषणवादी व्यवस्था में कोई खास बदलाव नहीं हुआ। किसानों द्वारा शुरू किया गया यह नक्सलवादी आंदोलन बहुत तेजी से पूरे देश में फैला। इस आंदोलन के समर्थन में बंगाल राज्य के छात्रों, बुद्धिजीवियों तथा समाज के अन्य वर्गों ने अपना सहयोग दिया। "1970 के मध्य और 1971 के बीच कुल 4000 हिंसक घटनाएं हुई जिसमें 3500 पश्चिम बंगाल में, 220 बिहार तथा 70 आंध्र प्रदेश में हुई।"[4] इस आंदोलन को आजाद भारत का सबसे बड़ा जन विद्रोह कहा जा सकता है। गरीब किसानों, भूमिहीनों, मजदूरों को शोषण से बचाने के लिए जो कानून बनाये गए, उन कानूनों की कमियों को सांमतों व जमींदारों ने अपने हित में इस्तेमाल किया। इस दशा में अत्याचार व शोषण से मुक्ति के लिए गरीबों ने खुद से बंदूक उठा कर संघर्ष किया। गरीबों के इस संघर्ष को हमारी शासन व्यवस्था ने समस्या मानकर इनके दमन का प्रयास किया। 'ऑपरेशन थंडर' और 'ऑपरेशन ग्रीन हंर' शासन के दमन के प्रचार के उदाहरण है। रामधारी सिंह दिवाकर ने 'अकालसंध्या' में कृषि संबंधी संघर्ष का सजीव चित्रण किया है। मरकसवा गाँव अपने-आप में सांमतवाद विरोधी चेतना को लिए हुए है। इस गाँव की स्थापना पांच सौ एकड़ 'गैरमजरूआ' चारागाह की सरकारी जमीन पर गरीब मजदूरों ने कम्युनिस्ट नेता शिवराज सिंह के नेतृत्व में संघर्ष करके किया, जिस पर हरिवंश बाबू ने नाजायज तरीके से कब्जा कर रखा था। "बड़ी मेहनत से शिवराज बाबू ने चार-पांच गाँव के भूमिहीनों को एकजुट किया। लगातार डेढ-दो साल वे इसी संगठन के काम में लगे रहे। आखिर एक रात बाबू हरिवंश सिंह के गैरमजरूआ जमीन पर भूमिहीनों ने कब्जा जमा लिया। सैकड़ों झोपड़ियाँ खड़ी हो गयी रातों-रात।"[5]

सन् 1990 में नयी आर्थिक नीतियों को अपनाने से पहले से भारत सरकार कृषि और उद्योगों के बीच एक पक्षपातपूर्ण रवैया रखती आ रही थी। विकास के नाम पर एक तरफ उद्योगों को भरपूर सहयोग एवं समर्थन दिया जा रहा था। सरकार द्वारा कृषि क्षेत्र की उपेक्षा का कारण स्वतंत्र कृषि नीति का न होना है। विकास के नाम पर लगायी जा रही तमाम परियोजनाओं एवं शहरीकरण और औद्योगीकरण की नीति ने गाँवों को पीछे धकेल

दिया। हाल ही में आया भूमि अधिग्रहण अध्यादेश सरकार की इसी नीति का द्योतक है। किसानों के साथ हो रहे इस व्यवहार को वीरेन्द्र जैन ने कुछ इन शब्दों में व्यक्त किया है, "ताज्जुब की बात तो यह है कि ये सब तय हुआ कब? हमसे बिना पूछे हमारी तबाही का फैसला ले लिया?"[6]

देश की एक चौथाई जनता को राष्ट्रीय आय का तीन चौथाई हिस्सा मिल रहा है, और बड़ी जनसंख्या को सिर्फ एक चौथाई हिस्सा। इस प्रकार गाँवों और शहरों के बीच की दूरी लगातार बढ़ रही है। सरकार की नीतियों और उसके खराब प्रशासन ने गाँव की स्थिति को काफी कुछ बिगाड़ दिया है। परिणामस्वरूप किसान आत्महत्या कर रहे हैं। यह वही किसान है, जिन्होंने आजादी के लड़ाई के दौरान एकजुट होकर संघर्ष किया था, आज वही घोर हताशा व निराशा के शिकार हो गए है और जान दे रहे हैं। किसानों की इस आत्महत्या के पीछे 'वाशिंटन आम राय' के आधार पर लगायी गई सरकारी नीतियाँ ही जिम्मेदार है। इसके पहले भी किसानों के सामने संकट कम उत्पन्न नहीं हुए, सूखा पड़ा, बाढ़ आयी, बेताहाशा लगान वसूली की गयी, राजाओं की लड़ाइयों में फसलें तबाह हुईं, परंतु किसान टूटा नहीं। हर बार वह नयी शक्ति के साथ उठ खड़ा हुआ और सामने खड़ी स्थिति से संघर्ष किया। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में जो पूंजीपति भारत आए उन्होंने और अधिक कुटीलता से काम लिया। किसानों की इन तमाम मुसीबतों और उस पर सरकारी तंत्र की निर्दयता और फरेब का चित्रण राजू शर्मा अपने उपन्यास *'हलफनामें'* में करते हैं। साथ ही पानी संकट की कहानी भी बयान करते हैं, जोकि उत्तर आधुनिक समाज के तथाकथित विकास की रूपरेखा पर प्रश्न चिह्न लगाता है।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में ग्रामीण जीवन में कृषि की स्थिति को बहुत बदल दिया है। यह बदलाव कृषकों के लिए ऐसी स्थिति को जन्म दे रहा है, जिसमें आज तक भू-स्वामी कहा जाने वाला कृषक समाज कर्ज के बोझ में दब कर मर जाएगा या फिर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के निर्देशों के तहत अपनी ही जमीन पर मजदूरी करेगा। यह मजदूरी कम्पनी के गुलामी के रूप में होगी।

1. सुमित सरकार, *आधुनिक भारत,* पृ. 80
2. बिपन चन्द्र, *आजादी के बाद का भारत,* पृ. 257
3. मिथिलेश्वर, *माटी कहे कुम्हार से,* पृ. 273
4. *भारत में नक्सलवादी आंदोलन,* योजना, 2007, पृ. 12
5. रामधारी सिंह दिनकर, *अकालसंध्या,* पृ. 62
6. वीरेन्द्र जैन, ड्रन, पृ. 108

कविताएँ

शंभूनाथ सरकार जेएनयू के प्रशासन भवन में वरिष्ठ सहायक हैं।
प्रस्तुत है उनकी कविता।

आक्षेप

बैर न था तुम से
बैर न था प्रीत से
एक आधार बना
जब गयी तुम
शुरू हुई दुश्मनी
तब अपने आप से।

खो गया चैन
आ गयी दैन
शबनम की जगह
पनपने लगी एक
ज्वाला सी कुछ
मुस्कराते नैन से।

समय के साथ खो गया भोलापन
पता नहीं कब से।

इतिहास तुम्हें याद रखेगा

आग के साथ खेलने की
ख्वाईश गुनाह तो नहीं
खेल-खेल में आग को फैलाना
वाकई गुनाह है।

तुम्हारी खतरों से खेलने की चाहत
गुनाह तो नहीं
खेल-खेल में दूसरों को
खतरों में डालना
यकीनन गुनाह है।

आग से खेलो ज़रूर
बुझाने के लिए
खतरों से खेलो ज़रूर
लोगों को बचाने के लिए
इतिहास तुम्हें याद रखेगा।

हस्तक्षेप : सॉफ्ट पोर्न बनता हुआ भोजपुरी गीत
(भोजपुरी लोकप्रिय गीतों में स्त्री विरोधी स्वर)

बृजेश यादव

बृजेश यादव युवा शोधार्थी हैं और सामाजिक गतिशीलता के आकलन में इनकी दिलचस्पी है।

"आमतौर पर माना जाता है कि जो साहित्य और कला व्यापक जनसमुदाय के बीच सहज रूप में ग्राह्य हो वह लोकप्रिय है ।"[1] लोकप्रिय साहित्य के तर्ज पर ही हम लोकप्रियता का संबंध हिंदी के गीतों से जोड़ सकते हैं, जो बड़ी संख्या में सुने और पसंद किये जाते हैं लेकिन, यह लोकप्रियता का राष्ट्रीय (भौगोलिक दायरे में) पक्ष है। लोकप्रियता का एक स्थानीय पक्ष भी है। क्षेत्रीय बोलियों में लोगों के मनोरंजन के तौर पर गाये गए गीतों को, जिसे हम 'लोकप्रिय गीत' भी कह सकते हैं, बड़ी संख्या में सुना और पसंद किया जाता रहा है। इसे हम लोकप्रियता का स्थानीय पक्ष कह सकते हैं। हिंदी की बोलियों में भोजपुरी सबसे बड़ी संख्या में बोली और समझी जाती है (लगभग बीस करोड़ लोग पूरी दुनिया में भोजपुरी बोलते और समझते हैं)। आज भोजपुरी समाज के मनोरंजन के लिए लोकप्रिय गायकों की संख्या सैकड़ों में है, जिसमें महिलाएं भी शामिल हैं। पिछले कुछ वर्षों में हिंदी सिनेमा जगत में जो बदलाव आया है उसका असर भोजपुरी समाज और संस्कृति पर भी पड़ा है। आर्थिक नव-उदारवाद ने सिनेमा जगत को जिस व्यावसायिकता की तरफ धकेला है, मनोरंजन के नाम पर जिस फूहड़ता भरे आइटम साँगों की फिल्म और एल्बमों में छौंक-बघार लगी है तथा कॉर्पोरेट और बाजारू मीडिया ने उसे जिस रूप में प्रायोजित किया है, उसके प्रभाव से कोई अछूता नहीं रह पाया है। कहने को तो पिछले कुछ वर्षों में भोजपुरी सिनेमा और कलाकारों का सम्मान बढ़ा है लेकिन इन कलाकरों ने अभी तक एक भी ऐसी फिल्म नहीं दिया है जो बौद्धिक जगत का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके। जबकि ठीक उसके बरक्स दूसरी भाषाओं-बोलियों में कोर्ट है, सैराट है, तिथि जैसी अनेक फिल्में हैं जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर की ख्याति अर्जित कर चुकी हैं। मैं किसी भी तरह की शुचिता और पवित्रता का पक्षधर नहीं हूँ और ना ही किसी अतीत मोह से ग्रसित। लेकिन, इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं लगाना चाहिए कि मैं फूहड़ता का पक्षधर हूँ। मैंने गौर किया है कि पिछले कुछ वर्षों में भोजपुरी समाज में मनोरंजन के नाम पर जिस फूहड़ता और स्त्री विरोधी संस्कृति तथा मानसिकता का विकास हुआ है वह स्त्री के प्रति पारंपरिक सामंती मानसिकता का बाजारवादी संस्करण है। तकनीकी विकास तथा वैश्वीकरण ने नव-उदारवादी बाजारवादी संस्कृति की प्रक्रिया को गति प्रदान किया है। वैसे तो भारतीय समाज (कुछ आदिवासी क्षेत्रों को अपवाद स्वरूप छोड़ दिया जाय) तो एक सशक्त पितृसत्तात्मक समाज है, जिसकी संरचना में पुरुषवादी दृष्टिकोण प्रभावी है। तमाम आघातों के बावजूद इसकी मानसिकता आज भी पुरुष वर्चस्व से उबर नहीं पाई है। स्त्री को समाज में उचित और सम्मान जनक स्थान आज भी हासिल नहीं है, जिसके लिए वह वर्षों से संघर्षरत है।

भोजपुरी समाज के लोकप्रिय कलाकारों, गायकों और गीतकारों का मुख्य मकसद पैसा कमाना हो गया है। नहीं तो आखिर क्या वजह है कि जो भोजपुरी समाज आर्थिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक रूप से इतना पिछड़ा है कि भोजपुरी को उसका संवैधानिक हक नहीं प्राप्त है लेकिन उसके लोकप्रिय गीत विदेशी दृश्य पोर्न को वाचिक संगीत में प्रस्तुत कर रहे हैं और भोजपुरी समाज का युवावर्ग उसपर निछावर हुआ जाता है। कलाकार खूब धन और वाहवाही लूट रहे हैं। ऐसा तो नहीं है कि भोजपुरी समाज बहुत विकास कर गया है। ऐसा भी नहीं है कि भोजपुरी समाज की सामाजिक, राजनैतिक, लैंगिक और सांस्कृतिक समस्याओं का निदान हो गया हो। कहना न होगा कि पूँजीवादी बाजार ने पूँजी बनाने के लिए पिछड़े समाज की उस नब्ज को पकड़ा है जिससे कलाकार भी अनभिज्ञ जान पड़ते हैं। क्षणिक वाहवाही और अर्थ ने उनको वास्तविकता से बहुत दूर खड़ा कर दिया है। हम कह सकते हैं कि विज्ञ या अनभिज्ञ भोजपुरी कलाकार अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए समाज को सामाजिक समस्याओं से काट कर, सांस्कृतिक भटकाव की ओर ले जा रहे हैं। आज भोजपुरी क्षेत्र का दस से लेकर पचास वर्ष तक का व्यक्ति सार्वजनिक जगहों पर, चाहे वह रेलगाड़ी का डब्बा हो या स्टेशन या फिर बस हो या बस स्टैंड, ऐसे गीत जोर-शोर से बजाते और सुनते-सुनाते हुए मिल जायेंगे, जिसे सुनकर शर्म, हँसी और तरस एक साथ आती है। इन गीतों में स्त्रियों को उनके यौनांगों से जोड़कर ऐसे पेश किया जाता है कि स्त्रियों के प्रति ऐसी हिंसक मानसिकता का सार्वजानिक जगहों पर प्रदर्शन तो शायद ही कहीं देखने को मिले! आजकल भोजपुरी में रिलीज होने वाले अलबमों की फूहड़ता को यहाँ लिखने में शर्म महसूस होती है लेकिन वह आज मनोरंजन के नाम पर भोजपुरी समाज की सच्चाई बनी हुई है। इन गीतों में पति-पत्नी या स्त्री-पुरुष के आंतरिक और गोपनीय संबंधों को खुलेआम गीत में पेश कर दिया जाता है। महिलाओं को इतना कामुक रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि जैसे उनके लिए सहवास (सेक्स) ही जीवन का चरम सत्य तथा एकमात्र कार्य हो। मसलन 'दू इंची छेदवा तोहार/नौ इंची गुल्ली डाले दा।' या जिले का कथित बखान करता 'जिला आजमगढ़ ह इ/डाली त फाटी हो' या 'ऊपर से

बत्तीस निचे के छत्तीस, बिचवे के चौबीस बुझाता की ना/बतावा ये गोरी हमरा गन्ना के रस, सही-सही तोहरा ढूंढ़ी में जाता की ना?' या फिर 'बोलेरो के चाभी' आदि लोकप्रिय भोजपुरी गीतों पर मुझे नहीं पता कि भोजपुरी फिल्मों और अलबम के कलाकार तथा सेंसर बोर्ड कभी सोचते-विचारते भी हैं कि नहीं।

आजकल के भोजपुरी लोकप्रिय गीतों में स्त्री-पुरुष या पति-पत्नी के बीच बनने वाले संबंधों का खुला चित्रण-वर्णन आम बात हो गयी है। सेक्स (सहवास) की विभिन्न मुद्राओं-अवस्थाओं का जिस धड़ल्ले से वर्णन इन गीतों में मिल जाता है मुझे लगता है कि पोर्न फिल्मों को छोड़ अन्य कहीं शायद ही मिले। मसलन 'ले लअ हो राजा बना के बकयियां', 'ले ला सुता के चाहे ले ल करवटिया', 'चुम्मा ले ल सुता के', गोदिया में सुता ली, 'पीछे से डाला राजा आगे जाम लागल' आदि इस तरह के सैकड़ों-हजारों गीत हैं जिनको सॉफ्ट पोर्न की कोटि में रखा जा सकता है। 'छोट भईल घघरा सकेत भईल चोली/नियत ईमान डियर कईसे ना डोली/अब तू बनारस के पान भईलू, ले ल लव के इंजेक्शन जवान भईलु' जैसे गीतों में महिलाओं के प्रति पुरुष मानसिकता को सहजता से समझ सकते हैं। ऐसे हजारों-हजार भोजपुरी में लोकप्रिय गीत हैं जो न सिर्फ स्त्री विरोधी हैं बल्कि समाज विरोधी भी हैं। इनको हम सॉफ्ट पोर्न की कोटि में रख सकते हैं। यह गीत भोजपुरी समाज के युवाओं में महिलाओं के प्रति एक खास तरह की लैंगिक हिंसक मानसिकता का निर्माण करते हैं। कहना न होगा कि यह गीत सेक्स को हिंसक, पुरुष वर्चस्व, जिसको 'मर्दानगी' भी कहते हैं के रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा महिला को कामुक, उत्तेजित रूप में ऐसा वर्णित करते हैं जैसे सेक्स, हिंसक सेक्स करना उसके अस्तित्व का सवाल हो गया हो। इन गीतों में स्त्री जीवन में आये कुछ महत्त्वपूर्ण बादलों को, समानता के अधिकारों को बहुत नकारात्मक रूप में दिखया जाता है। स्थानीय लोकप्रिय गीत-संगीत को साहित्य की कोटि में शामिल किया जाए या नहीं, या उस पर बौद्धिक जगत एक पैनिक दृष्टि से विचार करने लायक जब तक समझे, यह तय है कि वह हमारे समाज और संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है, इसे हम ज्यादा दिन तक अनदेखा नहीं कर सकते। समाज में यह गीत मनोरंजन के लिए 'लोकगीत' नाम से प्रस्तुत किये जाते हैं। आज इस गीत में कितना लोक है कहना मुश्किल है। स्त्री विरोधी सामंती समाज में पूंजीवादी, बाजारवादी संस्कृति कोढ़ में खाज की तरह है।

कविताएँ

कहाँ, कर रहा गमन

बलवन्त सिंह

बलवन्त सिंह जेएनयू के जीवन विज्ञान संस्थान में वरिष्ठ प्रयोगशाला सहायक हैं। कविता लेखन में उनकी विशेष रुचि है।

आज, पथ भ्रमित होकर तू,
कर रहा है कहाँ गमन,
तेरे पदचापों ने हर पल
किया है, छलनी मेरा तन मन,
पीछे मुड़, रुक क्षण भर को
सोच, कहाँ कर रहा गमन।

रुक रही है सरित प्रवाह अब,
उसको कल-कल बहने दे,
रोक, प्रदूषण आज अभी,
अब, स्वच्छ नदी को रहने दे।
रोग रोगाणु, जो, जल से जन्मे
उनका होगा तभी शमन,
सोच, कहाँ कर रहा गमन।

मेरा भाल हिमाला भी अब,
हो रहा है क्यों खंडित
करुण वेदना उसकी सुनके,
मेरा मन हो रहा द्रवित
शिखर विराजे स्वर्ण मुकुट को
करले अभी आज नमन,
सोच, कहाँ कर रहा गमन।

थर-थर काँप रहे हैं मेरे,
तन के सारे पर्वत वन,
और नग्न हैं हिम आच्छादित
मेरे सुत, पर्वतों के तन,
जीवन तेरा, मुझ पर निर्भर,
कर ले इस पर अभी मनन,
सोच, कहाँ कर रहा गमन।

मेरा स्वच्छ वायु को तूने,
क्यों कर डाला आज मलिन,
इक दिन जीना दूभर होगा
करले जितने लाख जतन,
अपनी श्वासों के खातिर अब,
दे दे मुझको एक वचन
सोच, कहाँ कर रहा गमन।

स्वयं आपको, अभी जगाकर
मेरे प्रतिरूप को पहचान,
ममतामई मैं, दिव्य धरती हूँ
शांत मन से कर मेरा ध्यान,
मैं चाहती हूँ हर दम देखूं
मानव तेरा, खुशी चमन
सोच, कहाँ कर रहा गमन।

सामासिक संस्कृति और भारतीय समाज

नुसरत जबीं सिद्दिकी

नुसरत जबीं सिद्दिकी शोधार्थी हैं तथा सामासिक संस्कृति के अध्ययन में इनकी विशेष रुचि है।

संस्कृति एक गतिशील या प्रवाहमान अवधारणा है, यह समाज और समय के साथ निरंतर विकास करती रहती है। संस्कृति में जो तत्व आते हैं वह या तो हमारी धार्मिक मान्याताओं के अंश होते हैं या सामाजिक परम्परा के प्रतिफल। इस प्रकार देखा जाता है कि संस्कृति का अपना सामाजिक संदर्भ होता है। जिस सामाजिक संदर्भ में किसी रचना व चित्रकृति का सृजन होता है, उसी सामाजिक संदर्भ में पला-बढ़ा व्यक्ति ही उस रचना व चित्रकृति का पूरी तरह से लुत्फ उठा सकता है। *'रामचरितमानस'* के चरित्रों की दुविधाओं को या *'गोदान'* के होरी के दुख-दर्द को वही व्यक्ति पूरी संवेदना के साथ समझ सकता है, जो भारतीय संस्कृति में पला-बढ़ा हो ना कि व्यक्ति जो भारतीय संस्कृति से अनजान हो। इस संबंध में आबिद हुसैन का मत है कि, "संस्कृति किसी एक समाज में पायी जाने वाली उच्चतम मूल्यों की वह चेतना है, जो सामाजिक प्रथाओं, व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, मनोवृत्तियों, आचरण के साथ-साथ, उसके द्वारा भौतिक पदार्थों को विशिष्ट स्वरूप दिए जाने में अभिव्यक्त होती है।"[1]

संस्कृति बहते हुए जल के समान होती है। जिस प्रकार बहता हुआ जल निर्मल और साफ-सुथरा होता है। प्रवाहमान संस्कृति भी बहते जल के समान पावन, निर्मल एवं स्वच्छ होती है। पानी जब कहीं रूक जाता है तो वह सड़ जाता है और उसमें से बदबू आने लगती है। हर युग में समाज में एक ऐसा समूह पैदा हुआ है जो संस्कृति की गतिशीलता में बाधा पहुँचाकर अपने फायदे के लिए इसको नियम-कायदों में या यूं कहें कि शुद्धता के नाम पर इसके विकास के मार्ग को अवरुद्ध करने की पूरी कोशिश करता है। जिसके जवाब में हमेशा ही उसी समाज के प्रगतिशील एवं बुद्धिजीवी वर्ग ने इन नियम-कायदों के खिलाफ आवाज उठाई है। इस तरह की समस्या विश्व के प्रत्येक सभ्यता में देखी जा सकती है। जैसे पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को लेकर नियम व कानून, हिन्दू धर्मग्रन्थों में वर्णाश्रम व्यवस्था, मुस्लिम समाज में कठमुल्लापन आदि।

संस्कृति का गहरा संबंध धर्म से भी होता है, लेकिन तब तक जब धर्म अपने मानवीय रूप में होता है। संकुचित अर्थ में धर्म संस्कृति का पर्याय नहीं बन सकता। जब धर्म केवल कुछ कर्म-काण्डों एवं रूढ़ मान्यताओं के घेरे में घिर जाता है, उसके मानवीय स्वरूप का ह्रास हो जाता है, ऐसी स्थिति में संस्कृति और धर्म में विरोध पैदा हो जाता है। संस्कृति को लेकर सारा घालमेल तब शुरू होता है जब उसका संबंध धर्म के संकुचित अर्थ से जोड़ दिया जाता है।

संस्कृति को लेकर हमारे देश में दो तरह का नज़रिया पाया जाता है। एक नज़रिए के तहत संस्कृति का स्वरूप सामासिक होता है। संस्कृति विकासशील होती है और समय-समय पर दूसरी संस्कृतियों के सम्पर्क में आने पर उसका कोश और समृद्ध होता है। विश्व की लगभग सभी संस्कृतियों ने इसी प्रक्रिया के तहत समृद्धि हासिल की। जो संस्कृति ठहर जाती है या यूं कहें कि दूसरी संस्कृतियों के सम्पर्क को अवरुद्ध कर देती हैं, वह लुप्त हो जाती है और अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर पाती है। एक दूसरा नज़रिया उन लोगों का है जो संस्कृति के स्वरूप को शुद्धतावादी माना है। इस विचारधारा के लोग संस्कृति के सामासिक स्वरूप का विरोध करते हैं और संस्कृति के शुद्ध स्वरूप के हिमायती हैं। दरअसल वे भारत की पहचान एक हिन्दू राष्ट्र के रूप में बनाना चाहते हैं। वे इस देश और इसकी संस्कृति का संबंध उसी धर्म विशेष से जोड़कर देखना चाहते हैं, ताकि भारत के निवासियों के रीति-रिवाज एवं धर्म को हिन्दू धर्म, हिन्दू रीति-रिवाज एवं हिन्दू संस्कृति के रूप में स्थापित कर सकें। इस विचारधारा के अनुयायी सैकड़ों-हजारों सालों से गतिशील साक्षी परम्परा व संस्कृति को नकार देना चाहते हैं, जबकि सच्चाई यह है कि भारत देश कभी भी एक धर्म विशेष का नहीं रहा है। इन लोगों के नजरिए से देखने पर इस देश की संस्कृति बहुत कमजोर और इकहरी हो जाती है। भारतीय संस्कृति के संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है, ''भारतीय संस्कृति के निर्माण में बहुत से तत्वों का योग है जिसमें अनेक सभ्य, अर्धसभ्य और अलग सभ्य जातियों की संस्कृतियाँ, धर्म-मत, आचार-परम्परा और विश्वास घुसते गए।''[2]

हिन्दू राष्ट्र की चाह रखने वालों की सोच हमारी इस संस्कृति को दो तरीके से नुकसान पहुँचाती है। पहला यह कि हजारों सैकड़ों साल पुरानी सांझा संस्कृति का महत्व कम हो जाता है, और दूसरा कि एक मिले-जुले स्वस्थ समाज के विकास में घातक भी है; क्योंकि यह अलग-अलग समुदायों के बीच भ्रम की स्थिति पैदा कर दूरी पैदा कर देता है। जिससे सामाजिक सौहार्द के लिए खतरा पैदा हो जाता है। इसलिए इस देश की संस्कृति को धर्म विशेष की पहचान से जोड़ना उचित नहीं है। धर्म विशेष की पहचान से संस्कृति का प्रमुख जुड़ाव अन्य सम्प्रदाय एवं पंथों को हाशिए पर धकेल देता है। अलग-अलग संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान कि परम्परा ही हमारी संस्कृति के स्वरूप का निर्माण करती है। इस तरह यह बात कही जा सकती है कि भारत देश की संस्कृति एक मिली-जुली संस्कृति है जोकि इसका अनूठापन भी है। अब इस अनूठेपन और सुंदरता के बीच में शुद्धता और अशुद्धता की बात

कुछ बेमानी सी हो जाती है। सामासिक संस्कृति मजहबी कट्टरता का विरोधी है। सामासिक संस्कृति का अर्थ है जिसमें सबका साझा हो। जहाँ आपसी मेलजोल और सहनशीलता का भाव अहम है और संस्कृति के शुद्धतावादी स्वरूप का आग्रह नहीं है। संस्कृति अपने आप में शुद्ध होती भी नहीं है; क्योंकि संस्कृति हमेशा गतिशील रहती है। हिन्दुस्तान हमेशा दुनिया के बाकी देशों के लिए आकर्शण का बिन्दु रहा है। ईरानी, यूनानी, पार्थेन, बैक्ट्रियन और सीरियन ये सभी जातियाँ समय-समय पर भारत आईं। आर्यों के बाद हम देखते हैं कि शक, कुषाण, हूण आदि जातियों ने एक के बाद एक भारत की ओर रूख किया। इन जातियों की मौजूदगी की वजह से भारतीय समाज में एक हल्की हलचल पैदा हुई, लेकिन थोड़ा वक्त गुजरने पर ये सभी जातियाँ भारतीय संस्कृति रूपी दरिया में समा गई और साथ ही इनकी मौजूदगी ने भारतीय संस्कृति के खजाने को और अधिक समृद्ध भी किया आज इनकी अलग से शिनाख्त कर पाना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन हो गया है। ''भारतीय संस्कृति डेल्टा पर जमे हुए अनेक बालुका स्वरों की भांति नाना साधन और संस्कृतियों के योग से बनी है।''[3]

उपर्युक्त जातियों के अलावा भारत के साझा संस्कृतियों के इतिहास का एक मजबूत पक्ष मुसलमान भी हैं। जिनका इस सांझी संस्कृति के इतिहास एवं गतिशीलता पर गहरा प्रभाव है। यह प्रभाव साहित्य कला एवं स्थापत्य के साथ-साथ वेश-भूषा व भाषा पर भी बहुत स्पष्ट रूप में दिखता है। भारत में मुसलमान शासक वर्गों से पहले सूफियों के अलग-अलग सम्प्रदाय का आगमन आरम्भ हो चुका था। जिसकी इस सांझी संस्कृति में मजबूत हिस्सेदारी है। भारत में इस्लाम का आगमन एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना तो है हि, इतनी ही महत्वपूर्ण घटना सांस्कृतिक दृष्टि से भी है। भारतीय संस्कृति में इस्लाम ने सिर्फ दिया ही नहीं लिया भी, जैसा कि परस्पर दो संस्कृतियों के मिलने से स्वाभाविक रूप से होता है। निरंतरता में इस्लाम का भारतीयकरण हो गया। ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो इन ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक घटनाओं को पूर्ण रूप से नकार देना चाहते हैं और लगातार यह साबित करते रहते हैं कि मुसलमान एक विदेशी कौम है। मुसलमानों के अंदर भी एक धड़ा ऐसा है जो मुसलमानों में सुधारवादी आंदोलन के माध्यम से इस्लाम के शुद्धरूप को भारत में स्थापित करना चाहता है। ये दोनों धड़े भारतीय सांझी संस्कृति के हिमायती नहीं बल्कि विरोधी हैं। ''सांस्कृतिक विविधता स्वभाविक है, किसी रोग का लक्षण नहीं। वह यदि बढ़ती है तो बड़े अंकुश लगाना है तो सांस्कृतिक अंहकार और असहिष्णुता पर।''[4]

यह निर्विवाद है कि भारत में मुसलमानों के आगमन ने एक मजबूत शासन व्यवस्था की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन नए धर्म आवलम्बियों के आगमन ने भारतीय समाज को एक नयी दिशा में सोचने के लिए अग्रसर किया; क्योंकि भारत में आने वाली पिछली जातियों (हूण, शक, कुषाण, यूनानी, मंगोल आदि) से भिन्न थे। पिछली जातियाँ बर्बर और असभ्य थी, जो या तो लूट-मार करके चले गए और जो बचे वे इसी संस्कृति में घुलमिल गए। इसके विपरित मुसलमानों के पास समृद्ध संस्कृति और साहित्य था और साथ ही मजबूत नेतृत्व भी था। जिससे की इनके अंदर भारतीय संस्कृति को प्रभावित करने की शक्ति थी। यह राजनैतिक परिवर्तन एक सामाजिक परिवर्तन को जन्म देता है, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक इतिहास व संस्कृति की गतिशीलता में एक और अध्याय जुड़ता है।

किसी भी भौगोलिक सीमा के अंतर्गत रहने वाला एक धर्म या फिर कोई एक संस्कृति यह दावा नहीं कर सकती कि वह इस भू-भाग की प्रतिनिधि संस्कृति व धर्म है। सामाजिक संस्कृति किसी भी संस्कृति को मिटाने या भूला देने की पक्षधर नहीं है, बल्कि वह तो सबके साथ रहते हुए सामंजस्य की बात करती है। यह साझापन किसी एक आधार पर नही बल्कि जीवन के अलग-अलग स्तरों पर है, फिर वह जाति हो, धर्म हो, भाषा हो, क्षेत्र हो, या फिर लिंग। सामासिक संस्कृतिक की आभा इंद्रधनुष सी है। अलग रंग बिखरते हुए भी समुच्चय में अद्धितीय सौंदर्य का बोध कराती है। सौंदर्यबोध के माध्यम से मनुष्य को कट्टरता से ऊपर उठा कर मनुष्यता का बोध कराती है। इसका प्रभाव मनुष्य जाति की रचनात्मक कौशल पर भी उभरता है। गांधर्व कला शैली इसका बेजोड़ नमूना है। भारतीय चित्रकला, संगीत कला, साहित्य कला और नृत्यकला इस सामासिकता का ही परिणाम है। जब दुनिया में उपनिवेषवादी संस्कृति अपना दम तोड़ रही थी तब कुछ विद्वानों की चिंता यह थी कि क्या भारत जैसा देश इतनी सांस्कृतिक विविधता लिए हुए एक राष्ट्र के रूप में एकजुट रह पाएगा। उनकी यह चिंता आज गलत साबित हुई, क्योंकि भारत देश अपनी सांस्कृतिक विविधता को लिए हुए एकजुट तो है ही, इससे एक कदम आगे वह अपने लोकतांत्रिक तत्वों को दिन-ब-दिन मजबूत कर रहा है। अलग-अलग समय पर इतिहास में कुछ ऐसे पल आए जब धर्म के नाम पर हिंसा ने जोर पकड़ा। जैसे - 1984 में सिख विरोधी दंगे, 1992 में बाबरी मस्जिद का मसला, 2002 के गुजरात में भड़के हिंदू-मुस्लिम दंगे। इन घटनाओं पर सामासिक संस्कृति के जज़्बे और लोकतंत्र की प्रतिबद्धता ने विजय पाया।

आज आवश्यकता इस बात की है कि समाज में जाति, धर्म, वर्ग, लिंग, समुदाय के आधार पर किसी प्रकार की बाधा न हो सबकी पहुँच सब तक हो। जाति और धर्म किसी भी व्यक्ति और समूह का व्यक्गित मामला हो न कि सार्वजनिक जीवन में उसकी कोई मान्यता हो। सार्वजनिक उत्सवों, खान-पान, शादी-ब्याह में जाति बाधा ना बने। भारत जैसे धार्मिक व सामाजिक विभिन्नता वाले देश में अभी इस आदर्श को प्राप्त कर पाना मुश्किल है; क्योंकि अभी भी धर्म के अंदर ही कई प्रकार के बँटवारे हैं, साथ ही ऐसी मान्यताएँ प्रचलित है जिसके पालन से एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से दूर है। हिंदू समाज में एक बड़ा जनसमूह अपने इष्ट से मिल पाने से महरूम है। इन तत्त्वों का पालन सामासिकता के

रास्ते में बाधक है। लिंग के आधार पर भेदभाव की प्रथा भी सही नहीं है, जबकि धार्मिक ग्रंथों में कुछ स्थानों पर स्त्री को महत्वपूर्ण भूमिका में देखा जा सकता है, जबकि व्यावहारिक धरातल पर स्त्री को दोयम दर्जे का स्थान प्राप्त है। इन तमाम लोगों को जब तक इनका न्यायसंगत अधिकार व स्थान नहीं मिल जाता तब तक सामासिकता का आदर्श अपूर्ण है, सामासिकता का प्रश्न अधूरा है।

इस न्यायसंगत अधिकार और स्थान के लिए कई संत कवियों, महात्माओं एवं राजनेताओं ने समाज में बड़ी लड़ाईयाँ लड़ी। इस लड़ाई के लिए उन्होंने मुहावरे विकसित किए, वैचारिक माहौल तैयार किया, समय पड़ने पर विद्रोह का समर्थन भी किया। इनमें शेख फरीद, बुल्लेशाह, वारिसशाह, रामानंद, नानक, कबीर, जायसी प्रमुख हैं, जिन्होंने सामासिक संस्कृति की वैचारिक प्रतिबद्धता को मजबूत जमीन उपलब्ध करायी। इन्होंने अपने लेखन से भाईचारे और प्यार का संदेश दिया। इन्होंने उन तमाम दीवारों, बाधाओं को तोड़ने का प्रयास किया जिसने मनुष्य से मनुष्य के बीच में अंतर कर रखा है। इन प्रयासों का भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। आज के समय में भी इनकी पंक्तियां वर्चस्व की लड़ाई में शोषितों का हौसला बढ़ाती है। इनकी परम्परा को गालिब, टैगोर, इकबाल ने साहित्य में आगे बढ़ाया, जबकि राजनीति में गांधी, नेहरू और लोहिया इन सबके विचारों को लेकर आज भी सामासिकता की परम्परा का विकास हो रहा है। सामासिकता हमारे देश की राजनैतिक जरूरत ही नहीं है, बल्कि इससे भी कहीं आगे सामाजिक और व्यक्तिगत जरूरत है।

---

1. एस. आबिद हुसैन, *भारत की राष्ट्रीय संस्कृति*, पृ. 3
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी, *अशोक के फूल*, पृ. 58-59
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी, *विचार और वितर्क*, पृ. 157
4. श्यामचरण दुबे, *समय और संस्कृति*, पृ. 2

रुया मारम (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

सुमन राजे की इतिहास दृष्टि

करिश्मा सिंह

करिश्मा सिंह भारतीय भाषा केन्द्र में हिंदी की छात्रा हैं तथा स्त्री संबंधी विषयों में इनकी रुचि है।

तन के भूगोल से परे, एक स्त्री के
मन की गाँठें खोलकर, कभी पढ़ा है तुमने
उसके भीतर का खौलता इतिहास।
क्या तुम जानते हो
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण
बता सकते हो तुम
एक स्त्री को स्त्री दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा
अगर नहीं, तो फिर जानते क्या हो तुम
रसोई और बिस्तर के गणित से परे
एक स्त्री के बारे में...।

(*क्या तुम जानते हो* - निर्मला पुतुल)

'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' इस पुस्तक पर विचार करने से पहले यह आवश्यक होगा कि इस बात पर विचार करा जाए कि इस पुस्तक की लेखिका 'डॉ. सुमन राजे' ने आखिर इस पूरी किताब को आधा इतिहास क्यूँ कहा है। ज़रूरी होगा यह जानना कि वे किन आधे लोगों की बात कर उनको सफलता व शानदार तरीके से वक्त के दामन से निकालकर वर्तमान के आकाश तक लेकर आती हैं। लेखक जॉर्ज कार्लिन कहते हैं : 'पुरुष धरती से हैं और महिलाऐं भी धरती से हैं। हालात से समझौता करें।' कुछ यही समझाने का सफल प्रयास डॉ. राजे अपनी पुस्तक मे करती हैं। वे जिन आधे लोगों का प्रतिनिधित्व करती हैं वह कोई और नहीं बल्कि हाड़-माँस की बनी जीती जागती 'नारी' है। वे बड़ी ही मार्मिकता व सफलता से प्राचीनकाल से लेकर आज तक की हर उस नारी की बात करती हैं जिन्हें समाज व साहित्य में यथोचित स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। साहित्य का आधा इतिहास से उनका तात्पर्य ही यही है कि वह उन स्त्रियों की बात को, साहित्य को, भावनाओं को, इच्छाओं को, अपेछाओं को, क्रोध को आगे लाना चाहती हैं, जिन्हें इस पितृप्रधान समाज में बराबरी तो दूर, इंसान की दृष्टि से भी नहीं देखा गया। इस 'आधे' को वे बड़ी ही समझदारी से पूरा करने में सफल होती हैं।

पुस्तक में डॉ. राजे कालानुक्रमिक ढंग से, साहित्येतिहास में जिन महिलाओं को स्थान नहीं मिला है वे उनकी बात व रचनाओं को प्रकाश में लाती हैं। शुरुआत में ही वे कहती हैं - "इतिहास को यदि छू लिया जाए तो वह कंधों पर सवार हो जाता है। और फिर वह जिधर ले जाता है, हम जाते हैं।" डॉ. राजे चूँकि इस पुस्तक में चूँकि महिलाओं के विषय में ही बात कर रही हैं इसलिए वह पुरुषप्रधान समाज के पुरुष साहित्येतिहासकारों द्वारा किए गए पक्षपात व नज़रअंदाज़गी को बड़े ही सटीक ढंग से चित्रित-चिन्हित कर देती हैं। वे सिर्फ शिकायतें नहीं करतीं अपितु समाधान व सुझाव देते हुए अपनी बात रखती हैं। इतिहास को आदिम दृष्टि से देखने की इच्छा के कारण ही, पहली बार कोई स्त्री हिन्दी साहित्येतिहास को परखने का कार्य करती है। शायद इसीलिए वे कहती हैं - 'उस समग्र इतिहास को पूरा करने के बजाय *आधा इतिहास* को खोजने का आकर्षण-ज़िद की सीमा तक प्रबल हो उठा।'

इस पुस्तक का मुख्य लक्ष्य, आज तक हुए महिला लेखन को प्रकाश में लाना है, जिसका आज तक सही आकलन नहीं हो सका है। इतना वृहद साहित्य होने के बावजूद प्रश्न यह है कि क्यूँ कभी महिला लेखन को साहित्य के अध्ययन की इकाई मानकर काम क्यूँ नहीं किया गया? ऐतिहासिकता के बादलों में बहुत अंदर जाकर देखा जाए तो पता चलता है कि महिला लेखन कोई कल की ही बात नहीं है, अपितु यह हो सदियों, वर्षों की अविच्छिन्न परंपरा रही है।

डॉ. राजे की प्रमुख विशेषता यही है कि वे समाज के हर पक्ष तक पहुँचने व उनकी रचित रचनाओं को आलोक में लाने का प्रयास करती हैं। लेखिका लोकाश्रय के महत्व को भी अपनी पुस्तक में महत्त्वपूर्ण स्थान देती हैं। लोकाश्रित साहित्य को कभी मुख्य धारा के साहित्य में साहित्येतिहासकारों को उचित स्थान नहीं दिया गया। लेखिका जब ऐसा कहती हैं वो उनकी महिला लेखन व साहित्य की नज़रअंदाज़गी की जो पीड़ा व आक्रोश है, दोनों का समन्वय दिखता है। लेखिका जब लोकगीतों को आगे लाकर अपने 'आधे इतिहास' में जगह देती हैं तो वह सहज ही आकर्षित हो उठती हैं। सदियों तक वाचिक परंपरा में रहने वाले महाभारत, रामायण, कबीर के दोहे, पद व चौपाइयाँ तो जीवित रह गईं परन्तु अत्यंत दुखद है कि महिलाओं व उनके द्वारा रचित साहित्य को कभी संकलित करने का प्रयत्न ही नहीं किया गया।

स्त्री मुक्ति के प्रमाण प्राचीन काल से ही मिलते हैं। उन्होंने मुक्ता, कश्मीरी कवियित्री ललदेह, हब्बाखातून इत्यादि का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। स्त्री को सदैव ही संरक्षण में रखा गया है। यह संरक्षण कभी पिता, कभी भाई तो कभी पति का होता है। व्यक्तिगत रूप से मेरे हृदय में सदैव यह प्रश्न रहता है कि 'सदैव भाई, पिता व पति का संरक्षण ज़रूरी क्यूँ?' लेखिका भी इसी प्रश्न को अपनी पुस्तक में चरितार्थ करते हुए यह सिद्ध करती हैं कि किस प्रकार विवाहोपरांत स्त्री की सबसे प्रमुख इच्छा पति का सान्निध्य पाना हो जाती है और यही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बना दिया जाता है। क्या स्त्री के स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं है? या जीवन को इस पति व पिता के चक्रव्यूह में ही कुर्बान कर देना स्त्रीत्व है?

डॉ. राजे के अनुसार : 'जहाँ पुरुष मौन हो जाता है वहाँ जन्म लेना है, महिला लेख।' महिला लेखन की विशेषता ही यही है कि जब संपूर्ण पुरुष लेखन राम को मर्यादा पुरुषोत्तम सिद्ध करने में लगा होता है, तब वह महिला लेखन ही है जो परिस्थितियों की अंधेरी गुफा में प्रसव पीड़ा झेलती सीता के साथ खड़ा होता है। ऋग्वेद में प्रथम मण्डल में 'रोमशा' (126 सूक्त) का वर्णन मिलता है। रोमों के कारण इनकी उपेक्षा होती थी। परंतु उस युग में 'रोमशा' 'स्वयं' के साथ खड़ी होती है। और रोमों के कारण उपेक्षा करने वाले पति से कहती है कि वे उनके गुणों को विचारें। व उनके कामों को अपने आगे छोटा न मानें। लेखिका के अनुसार यह पहला लिखित प्रमाण है जब किसी स्त्री ने अपनी क्षमता के मूल्यांकन का समान अधिकार प्राप्त करने के लिए आवाज़ उठायी है।

अमेरिकी लेखिका मार्गेट साँगर कहती हैं - "कोई स्त्री तब तक स्वयं को मुक्त नहीं कह सकती जब तक उसका स्वयं के शरीर पर नियंत्रण न हो।" मार्गरिट से बहुत पहले शरीर व शरीर से जुड़ी स्वायत्ता का प्रतिनिधित्व 'रोमशा' करती हुई प्रतीत होती है। समाज ने सुंदरता के अपने ही पैमाने गढ़ लिए हैं। दुबला-पतला शरीर, बड़ी आँखे, तीखे नैन नक्श, लंबे बाल और सबसे महत्वपूर्ण 'गोरा' रंग ही सुंदरता का प्रतीक बन गया है। प्राचीन काल में भी परिस्थितियाँ कुछ ऐसी ही थीं। कुछ समय पहले अमेरिकी अश्वेत महिलाओं का आंदोलन 'Black is Beautiful' हो या जर्मनी में महिला आंदोलन के दौरान महिलाओं का 'बॉब कट' में छोटे बाल कटाना हो। लगभग सभी स्थितियों और दुनिया के हर हिस्से में 'सुंदरता की अवधारणाओं' को तोड़ते हुए ये महिलाऐं 'महिला स्वातंत्र्य' को बखूबी स्थापित करती हैं।

हिन्दी साहित्येतिहास में जैसा कि डॉ. राजे कहती हैं कि इन महिलाओं व उनके साहित्य को एक बड़े पैमाने पर नज़रअंदाज़ किया गया व इन्हें कभी साहित्येतिहास में स्थान ही नहीं दिया गया। संपूर्ण विश्व में जब 18वीं-19वीं शताब्दी में महिलाऐं आंदोलन खड़े करती हैं, सुखद है कि भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही महिलाऐं 'स्वयं' के लिए खड़ी हो रही हैं और रंग रूप के साँचों से ऊपर उठकर वे 'गुणों' को प्रधानता देने की बात करती हैं। नारी अस्मिता की खनक बहुत प्राचीन है फिर चाहे वह रोमशा हों या मुद्गल पत्नी जो वीरता की परिचायक हैं। पर इस वीरता, दृढ़ता के बाद भी स्त्री की पहचान उसके पति या पिता द्वारा दिए गए उपनामों पर आकर ही थम जाती है। लेखिका मध्यकाल में भी अपने भरसक प्रयासों द्वारा, भक्ति आंदोलन के दौरान हुए महिला लेखन को प्रकाश में लाती है। डॉ. राजे इस आधे इतिहास को आगे लाने के लिए भारतवर्ष के हर भाग को टटोलती हैं। उनकी यह कोशिशों विशेषतः प्रभावित करती हैं। इस पुस्तक का आठवाँ अध्याय (भक्ति) में अपने को खोजती हुई मध्ययुगीन कवियित्रियाँ व्यक्तिगत रूप से मुझे प्रभावित कर गया। लेखिका ने इस अध्याय के शीर्षक में ही मानों सदियों के प्रयासों को उजागर कर दिया है। 'अपने को खोजना' यह तीन शब्द मात्र नहीं है, बल्कि यह तो स्वयं में ही कभी न खत्म होने वाले अनन्त काल की यात्रा है। भक्तिकालीन महिलालेखन बहुत से मिथकों को खारिज करता है।

भक्तिकालीन 'मीरा' अद्भुत है क्योंकि बचपन में कृष्ण से जो प्रीति लगाई अपना सारा जीवन उन्होंने उस प्रीत पर न्योछावर कर दिया। 'विद्रोही बनाए नहीं जाते वे पैदा होते हैं' मीरा का पूरा जीवनचक्र इस विद्रोही के विद्रोह का चक्रण है। 'विवाह से विद्रोह', पति सत्ता का तिरस्कार करते हुए सती होने से इनकार और मुँह चिढ़ाने वाले अंदाज़ में कहना 'छाँड़िं दई कुल की कानि कहा करिहै कोई।' मीरा और कबीर जैसे विद्रोही को किसी निश्चित परिधि में रचना असंभव है। परंतु मीरा विशिष्ट हैं कबीर से इतर मीरा का एक स्त्री, विधवा, कुलवधु, भक्त, कवि होना ही वृहद रण क्षेत्र है। वे इससे मरते दम तक जूझती हैं। तभी तो वियोग की संवेदना उनके काव्य की प्राणधारा है। सच तो यह है जिस प्रकार हिन्दी प्रदेश के एक हजार वर्षों के इतिहास में जैसे कबीर अकेले हैं उसी तरह मीराबाई भी दूसरी नहीं हैं।

इतनी लंबी इतिहास यात्रा करती हुई यह पुस्तक जब आधुनिकता तक पहुँचती है तब तक यह पाठक को पूर्णतः अपनी गिरफ्त में ले लती है। आधुनिक युगीन नवजागरण एक राजनीतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण है जिसका सर्वमान्य मूल्य है 'आधुनिकता'। यहाँ तक आते-आते सती प्रथा निषेध, विधवा पुनर्विवाह जैसे मुद्दों पर एक बड़े तौर पर बात होने लगी थी। डॉ. राजे ने लगभग दक्षिण से लेकर उत्तरी छोर (कश्मीर) तक के पूरे महिला साहित्य को एक सूत्र में पिरो दिया है। विभिन्न कवयित्रियां व उनकी रचनाऐं किसी सुंदर माला में पिरोए हुए मनकों की तरह हैं। लेखिका आशापूर्णा देवी कहती हैं - "अधिकांश महिला साहित्यकार आज भुला दी गई हैं, क्योंकि स्मरण करने का दायित्व भी पुरुषों का ही है। उन्होंने ही तो समस्त साहित्य जगत पर कब्ज़ा कर रखा है। वहाँ वे जिसे सुरक्षित रखना चाहेंगे रखेंगे, जिसे फेंकना चाहेंगे फेंक देंगे।"

डॉ. राजे जिस शैली, जिस अंदाज़ में कवयित्रियों, उनके काव्यों व सामाजिक परिवेश को दर्शाती हैं, वह उन्हें व इस पुस्तक को पढ़ना अनिवार्य कर देता है। महादेवी की रचनाओं व उनके स्त्री शिक्षा के लिए किए गए प्रयासों को बेहतरीन अंदाज़ में प्रस्तुत करती हैं। उपन्यास, कविता, कहानी, आत्मकथा सभी क्षेत्रों में जहाँ-जहाँ स्त्रियों ने लिखा है, डॉ. राजे उसे संपूर्ण आलोक में जाने में सफल हुई हैं। महिला साहित्य को लेकर हुई नज़रअंदाज़गी के बावजूद भी लेखिका आरोप प्रत्यारोप में ना जाकर बड़ी ही ईमानदारी से इस आधे इतिहास को पूरा इतिहास बनाती हैं। पर जहाँ पर विरोध की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ उनके विरोध के स्वर ऊँचे हैं और वहाँ वे कठोर हृदय से कट्टरता से विद्रोह भी करती हैं। यही उनके स्त्रीत्व की मज़बूत पहचान है।

अंततः डॉ. राजे अपनी पुस्तक *'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास'* के द्वारा हर किसी के समक्ष अनेकों सवाल खड़े कर देती हैं -

- आज के इस अत्यंत आधुनिक युग में भी क्यूँ आवश्यकता पड़ती है 'आधे इतिहास' की?
- क्यों यह आधा साहित्य व उसका इतिहास, हिन्दी साहित्येतिहास की मुख्य धारा में शामिल नहीं किया गया?
- क्यों सिर्फ मीरा व महादेवी को साहित्येतिहास में स्थान मिला?

ऐसे अनेक प्रश्न हैं परन्तु शानदार तथ्य यह है कि लेखिका स्वयं इन जैसे अनेकों प्रश्नों के उत्तर अतीत की गहराईयों में गोता लगाकर अपने भरसक प्रयासों द्वारा नारी विमर्श के अंतर्गत समाधान भी देती है। स्त्री के कंधों पर अपनी इज्ज़त, मान-मर्यादा का भार डाल देना कोई नया नहीं है। इसके प्रमाण प्राचीनकाल से ही मिलते हैं। अक्सर यह सवाल उठता है कि माता-पिता सिर्फ अपने पुत्र से ही अपेक्षा करते हैं कि वह उनकी सेवा करेगा? क्यों इस बुढ़ापे की सीढ़ी तक आते उनकी बेटी जो कि एक 'स्त्री' है, उसका अस्तित्व धुंधला जाता है। सदैव पति की प्रिया बनने की अपेक्षा नारी से ही क्यों? सुंदर और रोमहीन शरीर की अपेक्षा रोमशा से ही क्यों? क्यों नारी को मात्र उसके शरीर के साँचे में रखकर देखा जाता है? लेखिका 'सिमॉन-द-बोउवार' कहती हैं - 'कोई पैदा नहीं होता पर बन जाता है 'स्त्री'।' (one is not born, but 'ather becomes a woman)

डॉ. राजे बड़ी ही कठोरता से पाठक को इन जैसे ही हज़ारों प्रश्नों पर विचार करने को मजबूर कर देती है और बड़े ही सहज ढंग से उस तथाकथित 'अभिजात्य' वर्ग के समक्ष अपने प्रश्न रखती हैं। क्यों हिन्दी साहित्येतिहास में इतने लंबे समय तक स्त्रियों द्वारा रचित साहित्य को स्थान नहीं दिया गया? अगर एक स्त्री सती हो सकती तो साहित्य में अमर क्यों नहीं? स्त्रियों की भाषा तो हो सकती है, परंतु साहित्य क्यों नहीं? क्या उस पढ़े-लिखे 'पुरुष वर्ग' को स्त्री लेखन में रुचि नहीं थी? या वे इस 'आधे' को बराबरी का दर्ज़ा देना ही नहीं चाहते थे?

वर्तमान समाज में हर ओर ऐसी ही स्थितियाँ देखने को मिलती हैं। जिस प्रकार मीरा को बारंबार विष देकर मारने का प्रयास किया गया, वैसे ही लीक से हटकर चलने वाली विद्रोहियों को यह तथाकथित समाज हज़म ही नहीं कर पाता। फिर चाहे वह मलाला, बेनज़ीर भुट्टो, इंदिरा गांधी, तस्लीमा नसरीन, क्लारा त्ज़ेटकिन ही क्यों न हों यह विडंबना संपूर्ण विश्व की ही है।

भारत में आधुनिक नवजागरण के साथ ही 'स्त्री जागरण- की भी लड़ाई चल रही थी। सती प्रथा, विधवा पुनर्विवाह, बाल विवाह निषेध, बहुपत्नी प्रथा का कट्टर विरोध करते हुए राजा राममोहन राय बड़ी ही दृढ़ता से इस 'आधे' वर्ग के साथ खड़े रहते हैं। स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, महात्मा गांधी, डॉ. अम्बेडकर इत्यादि के प्रयासों से निःसंदेह स्त्री की स्थिति सुधरी थी। पर सुधारों की आवश्यकता तो आज तक है, यह दुखद है।

स्त्री की लैंगिकता (Sexuality) सदैव साहित्य में चर्चित विषय रही हैं उदाहरणतः 'विद्यापति अपनी-अपनी पदावली में राधा कृष्ण के शारीरिक प्रेम का सम्पूर्ण चित्रण करते हैं। वे अपनी राधा को आत्मसम्मान से लबरेज़ तो बनाते हैं परंतु जब रतिचिन्हों, सूजी हुई आँखों और व्याकुलता की बात आती है तो यह सिर्फ राधा के हिस्से में आ जाते हैं। जब सवाल लैंगिकता का ही है तो दोनों की ही बात होनी चाहिए। क्यों मर्दानगी के नाम पर पुरुष को स्त्री को नियंत्रित करने का लायसेंस दे दिया जाता है। लेकिन स्त्री वह नहीं जो मृत्यु के भय से पीछे हट जाए। वह तो मीरा, राधा, सीता, रोमशा, उर्वशी, ताज, लक्ष्मीबाई, दुर्गावती, महादेवी, सुभद्रा, सरोजिनी इन जैसे ही लाखों करोड़ों नामों से जानी जाती है। यह आधी काया ही संपूर्णता का स्रोत है।

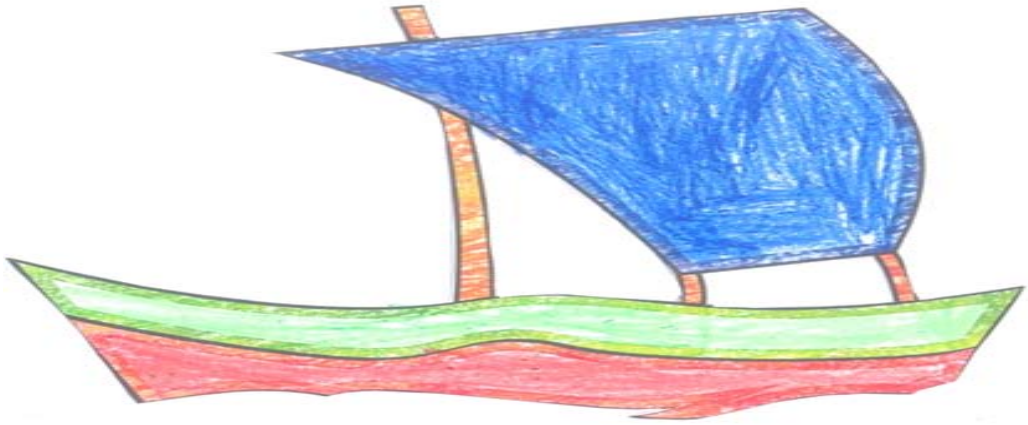

राहिणी प्रसाद (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

भारत का प्राकृतिक सौंदर्य

कामना सागर

कामना सागर सामाजिक अध्ययन संस्थान के राजनीतिक अध्ययन केन्द्र में शोधछात्रा हैं तथा साहित्य में इनकी गहरी रुचि है।

इक्कीसवीं सदी की कल्पना अत्यंत जिज्ञासापूर्ण एवं आह्लादकारी है। भारत श्यामला छवि ने भला किसको आकर्षित नहीं किया। यह देश सदैव अपनी संस्कृति, प्रकृति शोभा और सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध रहा है। मात्र भारतीय ही क्यों विदेशी भी भले ही वह भारत दर्शन के लिए आया हो, आध्यात्म-विद्या से प्रभावित हो उसकी प्राकृतिक छवि को देख कर मन्त्रमुग्ध हुए बिना नहीं रह सका, इतिहास इसका साक्षी है की हिमालय की सघन वन राशि की हरीतिमा, विन्द्याचल के वैभवपूर्ण वन सहसा दर्शक के हृदय और नेत्रों को अपने यौवन की और आकर्षित कर लेते थे।

मानव जीवन वास्तव में विभिन्न विरोधाभासों से भरा हुआ है। मानव के इस शुष्क जीवन को सरस बनाने में पर्याप्त योगदान दिया है। शुरू से ही मानव प्रकृति में जिज्ञासु रहा है। मानव ने कल्पना के द्वारा प्रकृति को विभिन्न रूपों में देखा है। जीवन में प्रत्येक वस्तु का अपना महत्व उसकी प्रसिद्धि से किया जाता है।

प्रकृति अर्थात् नदियों और वृक्षों ने भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को और महत्व देकर उसे आगे पहुँचा दिया है। समय परिवर्तन के साथ-साथ मानव विचारों में भी परिवर्तन आए। औद्योगिक युग का आरम्भ हुआ। प्राचीन मान्यताएं और परम्पराएं नकारी जाने लगीं। जनसंख्या की वृद्धि ने भी इन परम्पराओं को बदलने के लिए विवश कर दिया क्योंकि आवास योग्य भूमि की समस्या हमारे सामने आने लगी। जैसे वृक्षों, वनों और नदियों में बदलाव आना। कृषि योग्य भूमि कृषि के लिए दे दी गई, विभिन्न प्रकार की बस्तियां आदि। परिणामस्वरूप भारत वर्ष की जलवायु में नीरसता और शुष्कता आ गई। वृक्षों और नदियों के आभाव से वातावरण दूषित रहने लगा जिसका प्रभाव सबसे ज्यादा मानव के स्वास्थ्य पर पड़ा। समय पर वर्षा की कमी होने के कारण भूमि में उवर्रा शक्ति भी कम होने लगी। इन सब परिणामों को देखते हुए सन् 1950 में 'वन महोत्सव' की योजना का कार्यक्रम शुरू किया गया।

प्रकृति मानव की चिरसंगिनी रही है। अपने दैनिक जीवन के कृत्यों से उसका जब-जब मन ऊबा, तब-तब उसने प्रकृति का सहारा लिया। आकाश, सूर्य, समुद्र, मेघ, हरियाली, लहराते खेत को देखकर उसे संघर्षमय जीवन के क्षणों में सब कुछ विश्राम मिला, आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा और नई शक्ति प्राप्त हुई। पूर्वकालीन ऊषा की लालिमा से रंजित ओस बिन्दुओं से मंडित हरियाली पर टहलते समय सहसा ही मन नाच करने लगता है। वह प्रकृति के प्रति आकर्षित होता है और अपना प्रेम प्रकट करता है।

मानव के दिल पर प्रकृति के सौन्दर्य का चिरस्थायी प्रभाव पड़ता है। घने वृक्षों ने उसे छाया और रंग-बिरंगे फूलों ने उसे सुगन्ध प्रदान की है। सुस्वाद फलों ने उसकी सुंदरता को और निखारा है। नीले आकाश पर छाई मेघमालाओं ने बरसकर खेती को हरा-भरा बनाया। सावन के काले-काले बादल, बसंत की हरीतिमा, विभिन पक्षियों को देखकर सभी भावुक दिल प्रसन हो उठते हैं। प्रकृति के सौन्दर्य और उसकी सुंदरता को देखकर कवि की वाणी भी अपनी सुन्दर भाषा से उसकी सौन्दर्यता को प्रकट कर देता है।

सुमित्रानन्द पंत ने प्रकृति पर विशेष लिखा है - "छोड़, द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया। बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।" महाकवि तुलसीदास ने भी लिखा है - "वर्षाकाल मेघ नभ छाए। गरजत लागत परम सुहाए।" हमारा देश भारत अत्यंत महान एवं सुन्दर है। यह देश इतना पावन है की यहाँ देवता भी जनम लेने को लालायित रहते थे। हमारी यह जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर है। यह भी कहा गया है - "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" प्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद जी ने अपने एक नाटक के गीत में लिखा है - अरुण यह मधुमय देश हमारा। जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।" इसके पर्वतीय प्रदेशों की हिमाच्छादित पर्वतमाला दक्षिणी प्रदेशों के समुद्रतटीय नारियल के वृक्ष, गंगा-यमुना के उर्वर मैदान प्रकृति की अनुपम भेंट है इस देश में हर प्रकार की जलवायु पाई जाती है। इस भूमि पर धरती का स्वर्ग - कश्मीर है, जिसकी मनोरम घाटियां, डल झील, शालीमार-निशांत भाग हमें स्वप्नलोक की दुनिया में ले जाते हैं। हिमालय हमारे देश का सशक्त प्रहरी है, हिन्द महासागर इसके चरणों को निरंतर सुन्दर बनाता है। हमारा यह विशाल देश उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पूर्व में असम से लेकर पश्चिम में गुजरात तक फैला हुआ है। इस देश की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन करते हुए कवि रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है - "शोभित है सर्वोच्च मुकुट से, जिनके दिव्य देश का मस्तक। गूंज रही हैं सकल दिशाएं, जिनके जय गीतों से अब तक।"

प्रकृति स्वयं में नित्य, शाश्वत और चिरसुन्दर है। भारत की रचना में इन सभी तत्वों का योगदान है। स्वयं प्रकृति महान, अदभुत रचना है इसी कारण उस महान कलाकार (ईश्वर) का शिल्प प्राकृतिक सौंदर्य के रूप में भारत में सर्वोत्कृष्ट रूप में देखने को मिलता है। भारत के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन विभिन कवियों ने अपने-अपने ढंग से करने का प्रयास किया है। राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त के शब्दों में : "नीलांबर परिधान हरित तट पर सुन्दर है, सूर्य-चन्द्र, योग-मुकुट, मेखला रत्नाकर है, नदियों, प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन है। नदी, नाले, पर्वत, समुद्र, वन-उपवन और रेगिस्तान आदि सभी प्रकृति के अंग है। भारत को तीन ओर से समुद्र-तट ने घेर रखा है। समुद्र में मिलने वाली मछलियाँ, सीप, मोती, अन्य जल-जीव हमारे मन को मुग्ध कर देते हैं। वनों की हरियाली हमारे मन को आनंदित कर देती है। पर्वतीय सौंदर्य हमें अपनी ओर आकर्षित करता है और हम इसे देखने के लिए खिंचे चले जाते हैं। पर्वतों से निकलनेवाली नदियों एवं स्वयं फूट पड़ने वाले झरने हमारा मन मोह लेते हैं। हिमाच्छादित पर्वत शिखरों पर सूर्योदय और सूर्यास्त को दृश्य देखना अपने आप में विशिष्ट अनुभव है। भारत की विभिन्न वर्षा ऋतुएँ अपने परिवर्तित सौंदर्य से हमें आनंदित किए रहती है। प्रकृति सौंदर्य का जैसा वैभव भारत में बिखरा है, वैसा किसी अन्य देश में नहीं। भारत की प्रकृति अपने शृंगार के लिए नित्य नवीन आवरण धारण करती है।"

शोध प्रतिवेदन लिखने की शैली

डॉ. सत्येन्द्र कुमार

डॉ. सत्येन्द्र कुमार, जेएनयू में प्रलेखन अधिकारी हैं।

मनुष्य की यह विशिष्टता रही है कि वह अपने चारों ओर विद्यमान वातावरण को समझने का प्रयास करता है। परिणाम स्वरूप उसे शोधकार्य इनवेस्टीगेसन करना होता है ताकि वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। अवैज्ञानिक शोधकर्त्ता समय एवं धन का अपव्यय करता है। शोध शब्द का प्रयोग वैज्ञानिक शोध के सन्दर्भ में किया जाता है। जे.डब्ल्यू.बेस्ट ने लिखा है कि "विश्लेषण की वैज्ञानिक विधि को अधिक आकारिक, व्यवस्थित एवं गहन रूप में प्रयोग करने को अनुसंधान कहा जाता है।" बेस्ट लिखते हैं कि "एक व्यक्ति बिना अनुसंधान किए वैज्ञानिक हो सकता है परन्तु कोई व्यक्ति बिना वैज्ञानिक बने अनुसंधान नहीं कर सकता।"

न्यू सेन्चुरी डिक्शनरी के अनुसार - "अनुसंधान का अर्थ किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के विषय में सावधानी से खोज करना, तथ्यों एवं सिद्धान्तों का अन्वेषण करने के लिए विषय सामग्री की निरन्तर सावधानीपूर्वक पूछताछ अथवा पड़ताल करना है।"

सामाज-विज्ञान विश्वकोष में लिखा है कि - "अनुसंधान वस्तुओं, प्रत्ययों तथा संकेतों आदि को कुशलतापूर्वक व्यवस्थित करता है, जिसका उद्देश्य सामान्यीकरण द्वारा विज्ञान का विकास, परिमार्जन अथवा समापन होता है चाहे वह ज्ञान व्यवहार में सहायक हो अथवा कला में।"

डॉ. सुरेन्द्र सिंह ने लिखा है कि 'अनुसंधान' शब्द का व्युत्पत्तीय अर्थ (Etymological Meaning) बार-बार खोजने से सम्बन्धित है। शोध का आशय बार-बार की खोज या पुनः की जाने वाली 'खोज' है।

"अनुसंधान ज्ञान की अभिवृत्ति संशोधन एवं प्रमाणीकरण की दिशा में सामान्यीकरण करने के उद्देश्य से वस्तुओं, अवधारणाओं आदि में परिवर्तन के लिए किया गया एक वैज्ञानिक प्रयास, सामाजिक अनुसंधान, सामाजिक यथार्थ के एक विशिष्ट एवं परिभाषित क्षेत्र में उठाये गये प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने की दिशा में क्रमबद्ध विषयात्मक एवं उपयुक्त खोज है जो हमें इसे समझने तथा मानव कल्याण के लिए अथवा उपयोगकर्त्ता के लिए उसका अधिक से अधिक उपयोग करने में समर्थ बनाती है।" सामाजिक अनुसंधान की परिभाषा नवीन तथ्यों के अन्वेषण अथवा पुराने तथ्यों, उनके क्रम, पारस्परिक संबंध कारणात्मक स्पष्टीकरण और उन्हें नियंत्रित करने वाले प्राकृतिक नियमों की जांच करने के क्रमबद्ध ढंग के रूप में कर सकते हैं। अनुसंधान का प्राथमिक उद्देश्य-समीपवर्ती अथवा दूरस्थ सामाजिक जीवन को समझना तथा उसके द्वारा सामाजिक व्यवहार पर अधिक नियंत्रण प्राप्त करना है।

किसी भी वैज्ञानिक शोध की रिपोर्ट लिखने का मूल उद्देश्य यह होता है कि पाठक किये गये अध्ययन को ठीक से समझे, उसका मूल्यांकन करे तथा उस अध्ययन का यदि चाहे तो वह उसका वर्णिक प्रतिकृति (Literal Replication) कर सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह शोध रिपोर्ट लिखने की शैली के कुछ आधारभूत नियमों का पालन करे। वे प्रमुख नियम निम्नांकित है -

1. शोध रिपोर्ट में वैसी शोध का वर्णन किया जाता है जो पूरा हो चुका होता है। अतः इसे भूतकाल (Past Tense) में लिखा जाता है। इसके अपवाद के रूप में मात्र वैसा निष्कर्ष जो वर्तमान या भविष्य की परिस्थिति के लिए लागू होता है, को ही वर्तमान काल में लिखा जाता है।
2. उन सभी स्रोतों (Sources) का उल्लेख करना न भूलें जिनसे आपने समस्याओं या तथ्यों को लिया है। इसमें लेखक का अन्तिम नाम तथा वर्ष का उल्लेख होना चाहिए। जैसे एस.के. सिंह, बी.एस. बुटोला और अमरेश दुबे द्वारा किये गये शोध या प्रयोग से हम तथ्य को ले रहे हैं और इन लोगों का अध्ययन 2016 में प्रकाशित हुआ है, तो हम इसे इस तरह लिखेंगे (Singh, 2016) यदि शोध लेख दो लेखकों द्वारा लिखा गया है तो उसे इस प्रकार लिखेंगे Singh and Butola, 2016 आदि। यहाँ पर एक विशेष रूप से ध्यान देने वाली बात यह है कि जहाँ दो लेखकों के शोधों को संयुक्त रूप से सन्दर्भित किया जाता है, वहाँ उसे लिखने के दो तरीके हैं - पहला - जिसमें हम इन दोनों लेखकों के अन्तिम नामों को 'and' से जोड़ते हैं।

   दूसरा - जहाँ हम इन दोनों लेखकों के नाम को '&' से जोड़ते हैं। जैसे, हमलोग इन दो नामों को 'and' से इस परिस्थिति में जोड़ते हैं -

   Singh and Butola (2016) defined knowledge... परन्तु जब हम दोनों नामों को एक सन्दर्भ के रूप में वाक्य के अन्त में लघु कोष्ठक (Paranthesis) में लिखते हैं तो उसे '&' द्वारा जोड़ते हैं जैसे - knowledge was defined ... (Singh & Butola, 2016)

शोध रिपोर्ट को प्रस्तुत करने से पूर्व अथवा अन्तिम रूप देने से पूर्व शोधार्थी को ओपन सोर्सेज, जैसे कि इंस्टीट्यूशनल वेबसाइट या इंफ्लिवनेट वेबसाइट, जो कि ऑन लाइन उपलब्ध है के द्वारा चेक करना। भारत सरकार के सभी अनुसंधान संस्थानों/ विश्वविद्यालयों इत्यादि द्वारा सन् 2009 से यह अनिवार्य कर दिया गया है, कि शोधार्थी को अपने शोध कार्य को "प्लेजरिज्म" (साहित्यिक चोरी) को साफ्टवेयर पर निरीक्षण करने के बाद ही प्रस्तुत करना होगा। इस प्रक्रिया को विश्व स्तर पर अनिवार्य बना दिया गया है जिससे साहित्यिक चोरी पर अंकुश लगाया जा सके।

जब दो से अधिक लेखकों द्वारा प्रकाशित किसी शोध पत्र से तथ्यों या सूचनाओं को लिया जाता है तो उसमें प्रथम बार तो सभी नामों का उल्लेख किया जाता है और उसके बाद सिर्फ प्रथम लेखक तथा लेटिन सूक्ति (Latin phrase) (...et al) का प्रयोग किया जाता है। जैसे प्रथम बार Singh, Butola, Dubey, Singh and Butola (2016) परन्तु बाद में Singh ... et al (2016) ही लिखा जायेगा। इसके अतिरिक्त अगर आप चाहें तो AACR-2nd Revised Edition के आधार पर लिख सकते हैं।

3. जहाँ तक सम्भव हो रिपोर्ट में किसी अन्य स्रोत से प्रत्यक्ष कुछ उद्धृत (Quote) नहीं करना चाहिए, बल्कि उसमें उद्धृत विचारों को अपनी भाषा शैली में लिखना चाहिए। शोध रिपोर्ट में लेखक को किसी दूसरे के अध्ययन, न कि उसके लेखक को सम्बोधित करते हुए तथ्यों को लिखना चाहिए। जैसे - हमें ये नहीं लिखना चाहिए कि 'The results are reported by Butola ... et al (2015)' बल्कि इसकी जगह हमें लिखना चाहिए - The results are reported in Butola ... et al (2015)।

4. अपने अध्ययन को अन्य अध्ययनों से भिन्न करने के लिए 'This Study' या 'The present study' का उपयोग किया जाना चाहिए। परन्तु 'This study' या 'The present study' का उपयोग मानव क्रिया के रूप में नहीं होना चाहिए तथा 'This study attempted to show ...' नहीं लिखा जाना चाहिए।

5. संकेताक्षरों (Abbreviations) के प्रयोग से बचना चाहिए। शोध रिपोर्ट में संकेताक्षरों का उपयोग मात्र तीन परिस्थितियों में युक्ति संगत माना गया है -

(क) अगर पद ऐसा है जिसमें कई पद सम्मिलित हुए हों या उसमें बहुत सारे अक्षर सम्मिलित हों;

(ख) अगर पद का उपयोग रिपोर्ट में बहुत बार हुआ हो;

(ग) अगर शोध में बहुत सारे संकेताक्षरों का उपयोग नहीं किया जा रहा हो।

अगर शोध रिपोर्ट में संकेताक्षरों का उपयोग आवश्यक हो, तो प्रत्येक शब्द के प्रथम अक्षर को मिलाकर इसे तैयार किया जा सकता है। पूरे पद को प्रथम बार परिभाषित करके फिर उसके बाद उसका संकेताक्षर का उपयोग किया जा सकता है। जैसे - Anglo American Catalogue Rules (AACR) is defined as... और फिर उसके बाद मात्र AACR का ही उपयोग किया जा सकता है।

6. जहाँ तक सम्भव हो स्वीकृत पदों (Accepted Terminology) या स्वीकृत वैज्ञानिक पद (Scientific Terminology) का ही उपयोग किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त संक्षिप्त संकेत (Contraction) तथा उपभाषी पदों (Slang Terms) का उपयोग नहीं करना चाहिए, क्यों कि इसका अर्थ दूसरे देश के लोगों द्वारा सम्भवतः नहीं समझा जा सकता है।

7. शोध रिपोर्ट में शून्य से लेकर नौ की संख्याओं के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए तथा दस या दस से अधिक संख्याओं के लिए अंक का प्रयोग किया जाना चाहिए। परन्तु अंक का उपयोग किसी भी आकार संख्या के लिए हो सकता है यदि :

(अ) शोधकर्त्ता को संख्याओं का एक क्रम लिखना हो और उसमें कम से कम दस या उससे अधिक हों।

(ब) संख्या में दशमलव हो, या सांख्यिकी परिणाम का वर्णन हो या कोई यथार्थ मापन (Precise measurement) के सन्दर्भ में लिखा जाना हो। जैसे - यह लिखा जा सकता है : "The five conditions with 3 individuals per conditions..." शोध रिपोर्ट में किसी भी वाक्य की शुरुआत अंक में लिखी गयी संख्या से नहीं होती है।

8. APA शैली में शोध रिपोर्ट में प्रयोज्यों के लिए 'Subjects' की जगह 'Participants' लिखने की सिफारिश की गयी है। परन्तु जहाँ उचित हो, वर्णात्मक पद जैसे 'Students', 'Children', 'Users', 'Documentation', 'Library', 'Women', 'Books' आदि का भी उपयोग किया जा सकता है।

9. APA-1983 द्वारा शीघ्र रिपोर्ट लिखने का एक उत्तम एवं मानक प्रारूप तैयार किया गया है जिसका अनुसरण संसार में सभी देशों के शोध वैज्ञानिकों द्वारा किया जाता है। जो वेबसाइट पर उपलब्ध है।

10. शोध रिपोर्ट में सुस्पष्ट शब्दों (Precise wording) का उपयोग किया जाना चाहिए। पूर्वाग्रहित भाषा (biased language) का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो तटस्थ पदों (Neutral terms) जैसे - 'Librarian', 'Chairperson', 'Director' etc का उपयोग करना चाहिए।

किसी समस्या पर शोध करके उससे एक निश्चित निष्कर्ष निकाल लेना ही शोध वैज्ञानिक का उद्देश्य नहीं होता बल्कि उसे एक वैज्ञानिक ढंग से रिपोर्ट करना भी उसका एक प्रमुख उद्देश्य होता है। इस शोध रिपोर्ट का मूल उद्देश्य अन्य लोगों को यह बताना है कि शोधकर्त्ता द्वारा अमुक समस्या का समाधान किस ढंग से किया गया है। इससे वैज्ञानिक ज्ञान का प्रचार एवं प्रसार होता है। एक अच्छी रिपोर्ट में अन्य बातों के अलावा स्पष्टता (Clarity), यथार्थता (accuracy) तथा संक्षिप्तता (Conciseness) तीन प्रमुख गुण होते हैं। पुस्तकालय एवं सूचना विज्ञान या सामाजिक विज्ञान की रिपोर्ट को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए वैज्ञानिकों ने विशेषकर अमेरिकन वैज्ञानिक संघ ने एक प्रारूप (Form) तैयार किया है जिसे 'प्रकाशन मैन्युअल' कहा जाता है। आज कल सभी शोधों को सभी मानक शोध जर्नल्स में इसी प्रारूप (Form) में प्रकाशित किया जा रहा है। भारतीय शोध वैज्ञानिक भी इसी प्रारूप को मानक मानकर अपना शोध उसी ढंग से प्रकाशित कर रहे हैं इस प्रारूप को ध्यान में रखते हुए पुस्तकालय एवं सूचना विज्ञान व सामाजिक विज्ञान शोध को हम लगभग नौ चरणों में बांट कर प्रस्तुत कर सकते हैं -

किसी भी शोध कार्य को तैयार करना शोध प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण परन्तु कठिन कार्य माना गया है। शोध प्रस्ताव से तात्पर्य एक ऐसे प्रस्ताव से होता है जिसमें शोधकर्ता किसी शोध समस्या के समाधान के लिए विशेष कार्यविधि, सम्भावित समय एवं सम्भावित धन का व्यय आदि का उल्लेख करता है। बहुत सारे संस्थान यह चाहते हैं कि शोध कार्य प्रारम्भ करने से पहले शोधकर्ता एक शोध प्रस्ताव दें ताकि उस प्रोजेक्ट का मूल्यांकन किया जा सके और उसको अन्तिम स्वीकृति दी जा सके।

चूंकि विभिन्न संस्थानों द्वारा सामान्यतः अलग-अलग ढंग से शोध प्रस्ताव मांगे जाते हैं, अतः शोध प्रस्ताव का कोई सार्वत्रिक प्रारूप (Universal form) तो है नहीं । परन्तु किसी भी शोध प्रस्ताव में निम्नांकित नौ चरणों का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए -

1. समस्या का उल्लेख तथा उसका महत्त्व

शोध की समस्या का उल्लेख घोषणात्मक कथन के रूप में होता है। परन्तु उसे प्रश्नवाचक कथन में भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। सामान्यतः शोधकर्ता शोध की समस्या का उल्लेख इस ढंग से करता है कि उससे शोध के विशिष्ट लक्ष्य का स्पष्ट रूप से अनुमान लगाया जा सके। शोध समस्या के उल्लेख के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं -

(i) कॉलेज के प्रतियोगिता खेलों में भाग लेने से छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि में कमी आ जाती है।

(ii) सह-शिक्षा छात्रों के नैतिक स्तर को श्रेष्ठ बनाता है।

शोध प्रस्ताव में शोधकर्ता न केवल शोध समस्या का उल्लेख ही करता है बल्कि वह उसके महत्व पर भी बल डालता है। दूसरे शब्दों में वह यह भी बतलाने की कोशिश करता है कि इस समस्या का समाधान किस तरह से शैक्षिक तथा पुस्तकालय एवं सूचना विज्ञान के सिद्धान्तों को प्रभावित करेगा।

2. परिभाषा, पूर्व कल्पना, परिसीमा तथा सीमांकन

शोध प्रस्ताव का यह दूसरा चरण है जिसमें चार पक्षों पर शोधकर्ता बल डालता है जो इस प्रकार है -

(क) **परिभाषा** - शोध प्रस्तावकर्ता यहाँ अध्ययन में सम्मिलित होने वाले सभी चरों (variables) को संक्रियात्मक ढंग से परिभाषित करता है। ऑपरेशनली परिभाषा से तात्पर्य किसी कॉनसेप्ट को मापने तथा उत्पन्न करने के लिए आवश्यक ऑपरेशन्स के स्टेटमेंट से होता है। इन परिभाषाओं से शोधकर्ता का अपना दृष्टि कोण स्पष्ट होता है तथा उसके प्रस्तावित अनुसंधान का मूल्यांकन करने में सहायता मिलती है।

(ख) **पूर्वकल्पना** - पूर्व कल्पना से तात्पर्य उस कथन की उक्ति से होता है जिसमें शोधकर्ता विश्वास तो करता है परन्तु उसकी जांच नहीं कर सकता है, ऐसी पूर्वकल्पनाओं का उल्लेख भी शोध प्रस्ताव में महत्वपूर्ण माना जाता है।

(ग) **परिसीमा** - इसका तात्पर्य उन अवस्थाओं से होता है जो शोधकर्ता के नियंत्रण से बाहर होता है तथा जो अध्ययन के निष्कर्ष एवं उनका अन्य परिस्थितियों में अनुप्रयोग पर प्रतिबंध लगाता है। शोध प्रस्ताव में अध्ययन की परिसीमा का भी उल्लेख आवश्यक होता है।

(घ) **सीमांकन** - सीमांकन अध्ययन का चहारदीवारी होता है। प्रस्ताव में इस तथ्य का भी उल्लेख होता है कि अध्ययन से प्राप्त तथ्य किन व्यक्तियों पर लागू होगा तथा उस विशिष्ट प्रतिदर्श के बाद निष्कर्ष को सही नहीं ठहराया जा सकता है। इसी प्रक्रिया को सीमांकन की संज्ञा दी जाती है।

3. संबंधित साहित्य की समीक्षा - शोध प्रस्ताव में वर्तमान समस्या से संबंधित पहले किये गए शोधों का भी उल्लेख किया जाना आवश्यक है। इसलिए शोधकर्ता वैसे सभी अध्ययन जो रेलेवेन्ट होते हैं तथा जिन्हें स्पष्ट एवं विस्तृत ढंग से उल्लेख किया जा चुका है, को प्रस्ताव में सम्मिलित करता है। इस तरह की समीक्षा के निम्नांकित लाभ होते हैं-

(क) समीक्षा से पहले किये गये अध्ययनों की पुनरावृत्ति होने की सम्भावना नहीं होती है।

(ख) समीक्षा से उत्तम प्राकल्पना बनाने तथा उत्तम अनुसंधान के लिए महत्वपूर्ण सुझाव प्राप्त होते हैं।

(ग) समीक्षा से शोधकर्ता को यह भी पता चल जाता है कि अब तक क्या अज्ञात रहा है तथा किसे अब तक जांचा नहीं गया है।

4. प्राक्कल्पना - शोध प्रस्ताव के इस चरण में मुख्य-मुख्य प्राक्कल्पनाओं को सूचीकरण किया जाता है। प्राक्कल्पना को उल्लेखित करने से समस्या का स्वरूप तथा अनुसंधान के पीछे छिपे तर्क के बारे में पता चलता है। इतना ही नहीं, इससे आंकड़े संग्रहण प्रक्रिया को दिशा भी प्राप्त होती है। हालांकि रिसर्च हाइपोथीसिस, शोध समस्या या प्रश्न का एक स्थायी उत्तर होता है, यह एक ऐसा अनुमान होता है जो गत शोध के सिद्धान्त पर आधारित होता है। आंकड़े इकट्ठा करने से पहले प्राक्कल्पना का निर्माण आवश्यक होता है। हाइपोथीसिस को उत्तम कहलाने के लिए अन्य बातों के अलावा चार विशेषताओं का होना अनिवार्य है - (क) इसे विवेकी होना चाहिए; (ख) इसे ज्ञात तथ्यों तथा सिद्धांतों के अनुकूल होना चाहिए; (ग) इसका स्वरूप जाँचनीय होना चाहिए; (घ) इसे सम्भावित सरल शब्दों में उल्लेख किया जाना चाहिए।

5. विधियाँ - शोध प्रस्ताव का यह भाग तीन उपभागों में बंटा होता है - प्रयोज्य (subject), कार्यावधि तथा डाटा एनालिसिस प्रयोज्य उपभाग में उस जीवसंख्या का वर्णन होता है। जिससे शोधकर्ता प्रयोज्य चुनने की योजना रखता है। इसमें जीव संख्या की आयु-प्रसार, सामाजिक-आर्थिक स्तर, मौन, प्रजाति, मानसिक आयु, बुद्धि लब्धि, शैक्षिक उपलब्धि स्तर आदि-आदि का भी उल्लेख होता है। इसमें इस बात का भी उल्लेख किया जाता है कि इस शोध में प्रयोज्यों की कितनी संख्या होगी तथा उसे किस तरह चयन किया जायेगा।

कार्यावधि भाग में शोध योजना का उल्लेख होता है। इसमें विस्तृत रूप से इस बात का उल्लेख होता है कि क्या किया जायेगा, कैसे किया जायेगा, किस तरह के आंकड़े की आवश्यकता होगी तथा आंकड़े-संग्रहण के लिए किस तरह के परीक्षणों या उपकरणों का उपयोग किया जायेगा।

आंकड़ा-विश्लेषण उपभाग में उन विधियों का वर्णन होता है जिसके द्वारा आंकड़े का विश्लेषण किया जाने वाला है, यहाँ दी गई सूचना विशिष्ट होती है तथा इतनी विस्तृत होती है कि उससे संबंधित किसी भी तरह के प्रश्न या आशंका का उत्तर पाठक को अपने आप आसानी से मिल जाए।

6. समय अनुसूची - शोध प्रस्ताव के इस भाग में स्पष्टतः एक समय सीमा दी होती है जिसके भीतर शोध प्रोजेक्ट को पूरा कर लेने का दावा किया जाता है। इसमें सामान्यतः शोध के कार्यों को छोटी-छोटी इकाइयों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक इकाई को पूरा किये जाने की समय सीमा का उल्लेख किया जाता है।

7. सम्भावित परिणाम - एक उत्तम शोध प्रस्ताव में शोध के सम्भावित परिणामों का संक्षिप्त रूप से वर्णन कर दिया जाता है तथा उन तथ्यों पर भी प्रकाश डाला जाता है जो शोध के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसमें सम्भावित परिणामों के उचित विकल्प का भी वर्णन होता है तथा उन समस्याओं का भी वर्णन होता है जिनका जन्म उन परिस्थितियों में हो सकता है तब वास्तविक परिणाम सम्भावित परिणाम से अलग होंगे।

8. सन्दर्भ - इस भाग में शोध प्रस्ताव में सम्मिलित किए गये वैज्ञानिकों के नामों को तथा उनके प्रकाशित शोध-लेख से संबंधित संपूर्ण विवरण विवलियोग्राफीकल फॉर्म में दिए जाते हैं। यह बहुत कुछ शोध की अन्तिम रिपोर्ट जो शोध पूरा होने के बाद तैयार की जाती है, के ही समान होता है।

9. परिशिष्ट - शोध प्रस्ताव में परिशिष्ट का होना आवश्यक है। इसमें उन सभी सामग्रियों की सूची होती है जिसे शोध में उपयोग किया जाना है। इसमें उपयोग में लाये जाने वाले परीक्षण तथा स्केल की एक-एक कॉपी, उद्दीपक सामग्रियों तथा अन्य उपकरणों की सूची तथा मानक निर्देश की सूची, आदि होती है।

उपर्युक्त प्रारूपों को ध्यान में रखते हुए हम सामाजिक विज्ञान तथा पुस्तकालय एवं सूचना विज्ञान में शोध प्रतिवेदन प्रस्तुत कर सकते हैं।

रुमेटायड अर्थराइटिस (रुमेटायड गठिया) : कारण, निदान और उपचार

नीरज कुमार श्रीवास्तव

डॉ. नीरज कुमार श्रीवास्तव, जेएनयू के जीवन विज्ञान संस्थान में पूल साइंटिस्ट हैं। स्वास्थ्य संबंधी लेखन में इनकी दिलचस्पी है।

रुमेटायड अर्थराइटिस पर बात करने से पहले, हमें अर्थराइटिस पर बात करने की आवश्यकता है। रुमेटायड अर्थराइटिस, अर्थराइटिस का एक प्रकार है। अर्थराइटिस, सामान्यतया हिंदी में गठिया के नाम से प्रचलित है। इसके अन्तर्गत शरीर के जोड़ों में सूजन उत्पन्न होती है और जोड़ों में उपास्थि (कोमल हड्डी) भंग हो जाती है। शरीर के जोड़ ऐसे स्थल होते हैं, जहाँ पर दो या दो से अधिक हड्डियां एक दूसरे से मिलती हैं, जैसे कि कूल्हे या घुटने। उपास्थि जोड़ों में गद्दे की तरह काम करती है, जो दबाव से उनकी रक्षा करती है और क्रिया-कलाप को सहज बनाती है। जब किसी जोड़ में उपास्थि भंग हो जाती है तो आपकी हड्डियाँ एक दूसरे के साथ रगड़ खाती है, इसमें दर्द, सूजन व ऐंठन उत्पन्न होती है।

अर्थराइटिस शब्द अंग्रेजी के दो शब्दों, अर्थ व राइटिस से मिलकर बना है। ये दोनों शब्द लैटिन भाषा से लिये गये हैं। अर्थ का तात्पर्य जोड़ों से है और राइटिस का तात्पर्य सूजन (इन्फ्लेमेशन) से है। इस प्रकार अर्थराइटिस जोड़ों की बीमारी है, जिसमें कि जोड़ों में सूजन आ जाती है।

अर्थराइटिस के सामान्य प्रकार निम्नवत हैं -

(1) आस्टियो अर्थराइटिस; (2) रूमेटायड अर्थराइटिस; (3) ल्यूपस; (4) गाउट एवं (5) फाइब्रोमायालाजिया।

यहाँ पर केवल हम रुमेटायड अर्थराइटिस पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। सामान्यतया रुमेटायड अर्थराइटिस जोड़ों की ऐसी गठिया है, जिसमें शरीर की प्रतिरोधक क्षमता (एण्टीबॉडी), जो कि शरीर को संक्रमण से बचाती हैं, यह स्वयं शरीर के ही ऊतकों को ही नष्ट करने लगती है। यह रुमेटायड गठिया कहलाती है। इसके लक्षण निम्नवत हैं - जोड़ों में दर्द, जोड़ स्थिर नहीं रहते हैं या ऐसा महसूस होता है कि यह सहारा नहीं देगा, जोड़ बड़े हो जाते हैं या सूजन आ जाती है, अक्सर सुबह के समय जकड़न, जोड़ का सीमित उपयोग, जोड़ के आसपास गर्माहट और जोड़ के आसपास की त्वचा पर लालीपन।

इस रोग के लिए कोलैजन प्रोटीन का प्रकार दो उत्तरदायी होता है। इसी प्रोटीन के विरोध में एण्टीबॉडी बन जाती है और यह एण्डीबॉडी कोलैजन प्रोटीन को नष्ट करने लगती है। यह कोलैजन प्रोटीन जोड़ों में उपस्थित होती है।

रुमेटायड गठिया सामान्यतया पूरे संसार की जनसंख्या में 1 से 2 प्रतिशत लोगों को होता है। महिलाएं, पुरुषों की तुलना में इस रोग से ज्यादा प्रभावित होती हैं। इस रोग की क्रिया विधि (मैकेनिज्म) अभी तक पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं है और इस पर शोध कार्य जारी है।

रुमेटायड अर्थराइटिस का निदान, नैदानिकी इतिहास, शारीरिक परीक्षण, विशिष्ट प्रयोगशाला परीक्षणों जैसे सीवीसी, ईएसआर, सीआरपी, आर फैक्टर और चित्रिय परीक्षणों जैसे एक्स-रे, एमआरआइ व सीटी स्कैन के माध्यम से ही किया जाता है। रुमेटायड अर्थराइटिस के उपचार के लिये विभिन्न प्रकार की पद्धतियाँ उपलब्ध हैं - होम्योपैथिक औषधियों में एपिस मेलिफिका व ब्रायोनिया मुख्य रूप से उपयोगी हैं। रंग, संगीत व ध्वनि की भी उपचार पद्धतियाँ उपलब्ध हैं, परन्तु यह कितनी कारगर हैं, इसमें संदेह है। एक्यूपंचर (चीनी चिकित्सा पद्धति), जोड़ों का दर्द कम करने में अत्यधिक उपयोगी है। शारीरिक व्यायाम व योग भी बहुत सीमा तक दर्द कम करने व बचाव में लाभदायक है। तैराकी भी एक सीमा तक रुमेटायड अर्थराइटिस के प्रभाव को कम करने के लिये उत्तरदायी है।

सामान्य प्रचलित एलोपैथिक ड्रग्स (औषधियाँ) निम्नवत हैं : सायक्लोस्पेरिन, कोलीनमैग्नीशियम ट्राइसिलिकेट, ब्रूफेन, फ्लूरबाइप्रोफेन, ग्लूकोसामीन एवं गोल्ड सोडियम थायोमैलेट है। अभी हाल में अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्था, नई दिल्ली ने आयुर्वेद के एक उपचार को रुमेटाइय अर्थराइटिस के लिये अपनी सहमति दी है। यह औषधि सिद्धमकरध्वज व अश्वगन्धा चूर्ण है, जो कि दर्द व सूजन कम करने में उपयोगी है। यह जोड़ों को गतिशील बनाने में मददगार साबित हो रही है। इसके अतिरिक्त सैलिक्स नाइग्रा पौधे का अर्क (निचोड़) भी रुमेटायड अर्थराइटिस के लिये उपयोगी है। यह शोध से सिद्ध हो चुका है। इसके अतिरिक्त पेड़-पौधों से प्राप्त होने वाले प्राकृतिक उत्पाद जैसे कि रेड़ी (कास्टर) कातेल, नारियल व सरसों का तेल, अदरक, हरी चाय व हल्दी आदि भी बहुत सीमा तक रुमेटायड अर्थराइटिस रोकथाम करने में कारगर है।

योग द्वारा अपनी लम्बाई बढ़ाएं

अजय कुमार शास्त्री

डॉ. अजय कुमार शास्त्री, जेएनयू के योग केन्द्र में तकनीकी सहायक हैं। आजकल ये योगशास्त्र पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिख रहे हैं। प्रस्तुत है, उसके कुछ अंश।

ताड़ासन

विधि - आसन पर दोनों पैरों को परस्पर मिलाकर सीधा खड़ा हो जावें। पुनः श्वास भरते हुए तथा हाथों को बराबर से ऊपर को उठाते हुए कानों के पास से सीधा करें। हथेलियाँ आगे की ओर रहेगी तथा पैरो के पंजों पर ही सारे शरीर का भार रहेगा।

लाभ - इस आसन से रक्त का संचार ठीक होता है। शरीर की लम्बाई बढ़ती है तथा स्फूर्ति आती है। सर्दी या गर्मी जिसे अधिक लगती हो उसको यह आसन करना चाहिए। स्त्रियों के लिए यह आसन बहुत ही उपयोगी है, शरीर को लम्बा करने और स्वास्थ्य की दृष्टि से तो यह आसन लाभप्रद है। इसके साथ-साथ सब आसनों में एक यही आसन है जिसको गर्भवती स्त्रियाँ भी कर सकती हैं।

विशेष - इस आसन के करने से प्रसव पीड़ा नहीं होगी, उदर ठीक रहेगा। शरीर के कम्पन रोग में यह आसन लाभप्रद है। आजकल दूषित खानपान के व प्रदूषण के कारण कम्पन का रोग बढ़ रहा है। इस लिए ताड़ासन का अभ्यास बड़ी आयु में विशेष उपयोगी है।

जेएनयू में गंगा ढाबा नहीं, बल्कि गंगा ढाबा में जेएनयू है

दीपक भास्कर

डॉ. दीपक भास्कर जेएनयू के पूर्व छात्र हैं तथा आजकल दिल्ली विश्वविद्यालय के दौलत राम कॉलेज में सहायक प्रोफेसर हैं। छात्र गतिविधियों में इनकी गहरी दिलचस्पी रही है। इस बार गंगा ढाबा में प्रस्तुत हैं उनके विचार।

"गंगा ढाबा" जेएनयू का ऐसा चुम्बक है जिसमें जेएनयू के तमाम छात्र, शिक्षक, कर्मचारी और जेएनयू में रुचि लेने वाले लोग जुड़े रहते हैं और उसके प्रति भावुक हैं। जेएनयू अपने वैश्विक एवं राष्ट्रीय सोच के कारण जगजाहिर है। यहाँ के छात्र, शिक्षक एवं कर्मचारियों ने मिलकर एक ऐसी संस्कृति बनाई है जो देश में "आदर्श राज्य" की तरह है। कई बार लोग इसे 'टापू या द्वीप' भी कह देते हैं। जेएनयू की अलग संस्कृति का मुख्य आधार यहाँ की ढाबा संस्कृति है। वैसे तो यहाँ पर कई ढाबे हैं लेकिन इनमें "गंगा ढाबा" सबसे अलग और अनूठा है। "गंगा ढाबा" जेएनयू का सबसे पुराना ढाबा है और यह शाम के चार बजे से रात के तीन बजे तक खुला रहता है। जेएनयू के मुख्य द्वार से महज दो सौ मीटर की दूरी पर स्थित यह ढाबा अपने वैचारिक-विमर्श के लिए पूरी दुनिया में प्रचलित है। शाम से लेकर रात तक ये ढाबा अपने वैचारिक रोमांस में सरोबार रहता है। यहाँ की चाय की चुस्की आपकी खुशी को बढ़ा देती है और गम को कम कर देती है। यहाँ की चाय, स्वाद के तौर बहुत बेहतर नहीं लेकिन चाय में सनी वैचारिक रस, इसके स्वाद को इस तरह बना देती है की यहाँ आप चाय लेते नहीं बल्कि पीते हैं। छात्र किसी भी रिजल्ट के आने बाद गंगा ढाबे की तरफ दौड़ते हैं। आपका रिजल्ट हुआ तब भी, नहीं हुआ फिर भी। सिविल सेवा के रिजल्ट से लेकर लेक्चरर बनने तक, सभी का सेलेब्रेसन गंगा ढाबा पर ही होता है। एक बेहतरीन भौगोलिक अवस्था में बसा यह ढाबा आपको अक्सर रोमांचित करता रहता है।

पार्किंग से ढाबे तक के ऊबड़-खाबड़ रास्ते जीवन के संघर्ष की तरह होते हैं। चार से पांच पत्थरों के स्टूल बने होने के बावजूद ये अलग से नहीं लगते। छात्र यहाँ बैठकर देश-दुनिया की तमाम बातें, क्लासरूम में दिए रीडिंग से लेकर पीएच.डी. थीसिस तक यहाँ डिस्कस किये जाते हैं। आप चाय लेकर किसी भी ग्रुप में जाकर बैठ जाते हैं और डिस्कशन का पार्ट बन जाते हैं और कोई प्रोटोकॉल नहीं, जब चाहें उठकर बिना किसी को बाय किये हुए जा भी सकते हैं। कोई एंट्री या एग्जिट रूल नहीं है। हालाँकि यहाँ, सारे विमर्श पत्थरों पर बैठकर भी, बहुत ही सहज और सरल तरीके से किये जाते हैं। चट्टानों पर बैठकर भी विचारों में तरलता कितनी अजीबो-गरीब है। हर रंग के राजनैतिक और सामाजिक विचार यहाँ आकर एक समूह बन जाते हैं, हर राज्य यहाँ आकर एक देश बन जाता है और हर देश मिल जाते हैं और एक विश्व बन जाता है। क्षेत्रवाद, राष्ट्रवाद और अन्तराष्ट्रीयवाद से ऊपर उठकर मानवीय चेतना का विकसित होना कितना आवश्यक होता है।

कई छात्रों का समूह अपने गिटार और वाद्ययंत्र लेकर गाने गाते-बजाते हुए मिल जाते हैं और आप जाकर उनसे अपनी पसंद का गाना सुनाने के लिए आग्रह भी कर सकते हैं। संगीत से आत्मा पवित्र हो जाती है और आप यहाँ महसूस करते हैं। यहाँ आकर आप लड़का या लड़की नहीं रह जाते, बस विचार-पुंज बन जाते हैं। किसी भी तरह के विचार पर एक सहज विमर्श यहाँ की पहचान है। बिट्टू भैया की रिचार्ज की दुकान पर फोन रिचार्ज कराने तो आप आते हैं लेकिन फोन पर बात छोड़ आप किसी और को सुनने या सुनाने में मशगूल हो जाते हैं। जेएनयू के हर राजनैतिक प्रोटेस्ट की शुरुआत यहीं से होती है, नुक्कड़ नाटक से लेकर मशाल जुलूस तक का गवाह गंगा ढाबा बन जाता है। कभी-कभी ऐसा लगता है की जेएनयू की राजनीति का चाणक्य गंगा-ढाबा ही है। बगल में झेलम लॉन जेएनयू की राजनीति का जनरेटर है।

जेएनयू पिछले कुछ सालों में विभिन्न कारणों से लगातार चर्चा में रहा है। उसी में एक कारण है प्रशासन द्वारा "गंगा ढाबा" को बंद करने की चर्चा।

कई बार पुराने छात्र यहाँ आते हैं और किसी जान पहचान के छात्र को नहीं देखने पर भी अकेला महसूस नहीं करते बल्कि किसी से आपकी जान-पहचान नहीं भी हो तब भी आप ढाबा चलाने वाले सुशील भैया और गंगा ढाबे से तो आपकी पहचान होती ही हैं। आप कुछ समय के लिए यह भूल जाते हैं की अब आप यहाँ के छात्र नहीं हैं बल्कि आपमें रहने वाला छात्र फिर से जीवित हो जाता है। आप सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का हिस्सा बन जाते हैं। रात में जब लगभग देश सो रहा होता है तब यह ढाबा जागकर देश को बेहतर बनाने के उपाय ढूंढ रहा होता है। गंगा ढाबा की ऊबड़-खाबड़ जमींन पर चलते आप शायद किसी से न टकराएँ लेकिन विचारों की टकराहट की आवाज से पूरा ढाबा गुंजायमान रहता है। वैचारिक बहस के दौरान अगर आप क्रोधित हो गए तो आपको एक और चाय का ऑफर सप्रेम मिल जाता है। गंगा ढाबा इस देश की संसद और विधान सभा का पर्याय है। क्योंकि अब संसद और विधान सभाओं में तो देश-दुनिया के मुद्दों पर बहस नहीं बल्कि सर्वसम्मति से 'गिलोटिन' होता है। यह ढाबा मानता है की वैचारिक बहस प्रजातंत्र की रीढ़ होती है। इसी बहस के दौरान कितने नए विचार निखर कर सामने आ जाते हैं

और आर्टिकल या रिसर्च पेपर या किताब के बतौर देश के सामने होते हैं। यहाँ खाने के लिए कुछ खास नहीं लेकिन वैचारिक भूख से तृप्त होने के लिए गंगा ढाबा से बेहतर और कुछ नहीं। यहीं पर मौर्या जी की किताब की दुकान भी है और किताब खरीदने के बाद उस किताब का "रिव्यु" भी चाय के साथ ही हो जाता है। डिबेट-डिस्कसन के दौरान कई बार हॉस्टल जाकर खाना मुश्किल हो जाता है और यहीं पर राम सिंह के यहाँ खाते हुए, बात जारी रह जाती है।

प्रेमी युगल को भी यहाँ प्रेम-संबंधों पर बहस करते सुना जा सकता है। कितनी जरूरी है ये समझना की प्रेम में होने भर से काम नहीं चलता बल्कि प्रेम के सिद्धांत को समझना आवश्यक है। पितृसत्तात्मक समाज में प्रेम की समझ भी तो बहुत सतही है। गंगा ढाबा पर चाय पीते-पीते कई बार लड़के-लड़कियां आपस में वैचारिक समझ बना लेते हैं। कितना आवश्यक है साथ रहने के लिए इस अनकही वैचारिक समझ का होना।

गंगा ढाबा भले ही आधुनिक साज-सैय्या से सजा नहीं हो लेकिन आधुनिक विचारों में किसी भी हाय-फाई कॉफी शॉप से पीछे नहीं है। जेएनयू भौतिक रूप से बड़ा है और एक दिन में देखकर समझ लेना काफी मुश्किल है लेकिन गंगा ढाबे पर कुछ घंटे मात्र बिताने से आप इस विश्वविद्यालय के मूलभूत सिद्धांत को समझ जाते हैं। इसलिए कई बार आप गंगा ढाबा पर चाय पीकर ही वापस हो जाते हैं। शायद उन्हें ये महसूस हो जाता है की जेएनयू में गंगा ढाबा नहीं बल्कि गंगा ढाबा में जेएनयू है।

पुयानु थ अकोइजाम (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

हिंदी दिवस समारोह

हिंदी दिवस के अवसर पर पिछले दिनों 21 सितम्बर 2016 को हिंदी यूनिट की तरफ से **हिंदी दिवस कार्यक्रम** का आयोजन किया गया जिसमें विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. एम. जगदीश कुमार ने ***जेएनयू परिसर*** के नए अंक का लोकार्पण किया और हिंदी प्रतियोगिताओं में विजेता प्रतिभागियों को पुरस्कृत किया। इस अवसर पर प्रसिद्ध लेखक प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने हिंदी के महत्त्व पर अपना व्याख्यान दिया और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की संयुक्त सचिव डॉ. उर्मिला देवी ने मुख्य अतिथि के रूप में हिंदी की वर्तमान स्थिति पर अपने विचार वक्तव्य किए।

कार्यक्रम के प्रारम्भ हिंदी सलाहकार प्रो. देवेन्द्र चौबे ने स्वागत वक्तव्य दिया और विश्वविद्यालय के कुलसचिव डॉ. प्रमोद कुमार ने विश्वविद्यालय में हिंदी संबंधी हो रहे कार्य से अवगत कराया। कार्यक्रम का संचालन किया शिवम शर्मा ने और धन्यवाद ज्ञापन किया विश्वविद्यालय के उप कुलसचिव (प्रशा.) उमाकान्त अग्रवाल ने। कार्यक्रम का संयोजन विश्वविद्यालय के सहायक निदेशक (रा.भा.) सुमेर सिंह ने किया।

जेएनयू का प्रथम ऑनलाइन छात्र संचालित अखबार *द इन्फॉर्मर*

द इन्फॉर्मर जेएनयू का प्रथम ऑनलाइन छात्र संचालित अखबार है। इसका प्रारंभ अलग-अलग अध्ययन केन्द्रों से जुड़े 25 छात्रों की छोटी-सी पहल द्वारा हुआ, जब इन्होनें अपनी योग्यताओं व क्षमताओं का प्रयोग कैम्पस की घटनाओं का अभिलेखन तथा विश्लेषण करने के लिए किया। आज उसी पहल का परिणाम इसकी वेबसाइट (www-theinformerjnu-com) है जिसकी पहुँच 15000 से भी अधिक लोगों तक है। इस पत्र के माध्यम से जेएनयू के प्रति कैम्पस के अन्दर व बाहर एक नई दृष्टि उत्पन्न हुई है।

लगभग एक वर्ष पुराने इस अखबार की पहली रिपोर्ट इसके फेसबुक पेज (@theinformerjnu) पर 12 दिसम्बर 2015 को प्रकाशित हुई जबकि इसकी अपनी वेबसाइट 15 फरवरी 2016 से कार्यरत है। द इन्फॉर्मर का अपना संविधान है जो इस पत्र को न केवल स्वतंत्र, समावेशी एवं पक्षपात रहित लेखन का आधार देता है बल्कि, लेखन प्रक्रिया व लेखन सामग्री की उच्च गुणवत्ता के मानक भी निर्धारित करता है। पत्र के सुचारू संचालन के लिए छात्रों का अपना संगठनात्मक ढांचा है जिसमें सभी छात्र अपनी रुचि व योग्यता के अनुसार योगदान देते हैं। इन्फॉर्मर का यही लोकतान्त्रिक वस्तुनिष्ठ स्वरूप, स्व नेतृत्व और स्व प्रोत्साहन इसकी खासियत है।

द इन्फॉर्मर का उद्देश्य विभिन्न गुटों व पक्षों के मध्य वार्तालाप एवं संचार की खाई को पाटना तथा तटस्थ विद्यार्थियों को जागरूक करने के साथ-साथ उनकी वैचारिक सहभागिता बढ़ाने हेतु अधिक से अधिक प्रोत्साहित करना है। यह अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों जैसे लेख, कविता, वीडियो, तस्वीर आदि का स्वतंत्र प्लेटफार्म है जिसके माध्यम से प्रासंगिक मुद्दों के प्रति पाठकों को सूचित व जागरूक किया जाता है। यही वजह है की यह कैंपस व इसके बाहर भी निरंतर लोकप्रिय होता जा रहा है। चाहे 2016 के चुनाव परिणामों का सर्वप्रथम प्रकाशन हो या फिर 'जेएनयू तब और अब' जैसे लेख इन्फॉर्मर टीम ने पूरी लगन और सक्रियता से जेएनयू के हर पक्ष को उभारा है। छात्रों का यह अपना अखबार जो स्वतंत्र विचारधारा का द्योतक है, निरंतर हर पहलू व घटना से जुड़ने व सभी को जोड़ने में प्रयासरत है।

जेएनयू में 'हमारे समय का साहित्य-2, थीम : साहित्य और जन साहित्य में इतिहास' विषयक राष्ट्रीय परिसंवाद संपन्न

पिछले दिनों, 27-29 सितंबर 2016 तक अमृतलाल नागर की जन्मशताब्दी वर्ष के अवसर पर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र द्वारा साहित्य अकादेमी के सहयोग से आयोजित 'हमारे समय का साहित्य-2, थीम : साहित्य और जन साहित्य में इतिहास' विषय पर केन्द्रित त्रिदिवसीय परिसंवाद और रचना पाठ का आयोजन किया गया।

कार्यक्रम का उद्घाटन विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. एम. जगदीश कुमार के वक्तव्य से हुआ। उन्होंने कहा कि व्यक्ति के जीवन में रचनात्मकता का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। व्यक्ति चाहे कितना ही मशीनीकरण से प्रभावित हो, रचनात्मकता के बिना वह नहीं चल सकता। मुख्य वक्तव्य देते हुए प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने कहा कि साहित्य में इतिहास की खोज करने से पहले शिष्ट कहे जाने वाले साहित्य को साहित्य के शब्द-कोश से निकाल देना चाहिए। उन्होंने इतिहास और जन इतिहास में अंतर स्पष्ट करते हुए कहा कि अभिजन इतिहास राजनैतिक और साम्राज्यवादी होता है। इसमें पराजितों और पराधीनों के लिए जगह नहीं होती। इसके समानांतर जन इतिहास राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक होता है। यह अधिकांशतः स्मृति पर आधारित होता है। प्रो. पाण्डेय ने अपनी बात पर जोर देते हुए

कहा कि आज के बदले समय में साहित्य अभिजात्य वर्ग तक सीमित नहीं है। उसे कोई भी किसी भी तरह पढ़ सकता है। हिंदी के वरिष्ठ आलोचक रविभूषण ने अपने वक्तव्य में कहा कि इतिहास का संबंध अतीत से होता है और साहित्य का संबंध समकालीनता से होता है। इस तरह साहित्य लेखन के साथ इतिहास निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। चर्चित राजनीतिक विचारक मणीन्द्रनाथ ठाकुर ने साहित्य से इतिहास का संबंध बताते हुए कहा कि साहित्य का भी एक इतिहास होता है लेकिन वह तथ्यपरक नहीं होता। परंतु उसमें सत्य तक पहुँचने की शक्ति होती है। इस सत्र में देवेंद्र चौबे की 'कथाकार अमृतलाल नागर : शहर की संस्कृति और इतिहास के कुछ सवाल' और रश्मि चौधरी एवं देवेंद्र चौबे लिखित 'आधुनिक भारत के इतिहास लेखन के कुछ साहित्यिक स्रोत' पुस्तकों का लोकार्पण अतिथियों द्वारा किया गया। इस सत्र में प्रसिद्ध कथाकार चित्रा मुद्गल ने अपने उपन्यास 'नाला सोपारा पो. बॉक्स नं. 203, के अंश का पाठ किया। प्रसिद्ध कथाकार सुरेश कांटक ने 'गगन छल' रचना का पाठ करके रचना के अनछुए पहलुओं से परिचित कराया। कार्यक्रम की शुरुआत में संयोजक देवेन्द्र चौबे ने परिसंवाद की परिकल्पना सामने रखी। उन्होंने कहा कि यह राष्ट्रीय परिसंवाद और रचना पाठ समकालीन रचनाशीलता के बहाने साहित्य और इतिहास की बुनियादी धारणाओं में आ रहे परिवर्तन और विकास को समझने की दिशा में एक अकादमिक प्रयास है। इसका लक्ष्य रचनाकार, आलोचक, साहित्य के अनुवादक, पाठक और समाज विज्ञान से जुड़े अध्येताओं द्वारा सृजन की दुनिया में हो रहे परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं को समझना है। भाषा संस्थान की डीन प्रो. रेखा वी. राजन ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा कि भारतीय भाषाओं के छात्र भग्यशाली हैं कि उन्हें अपने लेखकों से मिलने का मौका मिला है। केंद्र के अध्यक्ष प्रो. अनवार आलम ने विभिन्न अनुशासन के बीच संवाद पर बल दिया।

'तीन दिवसीय परिसंवाद और रचना पाठ' की शृंखला में दूसरा दिन 'कथा : व्याख्यान, रचना और बातचीत' पर केन्द्रित था। कथा सत्र में इतिहासकार हितेंद्र पटेल ने कहा कि भूतकाल और इतिहास काल एक नहीं है। इतिहास 19वीं शताब्दी में निर्मित ज्ञान है जो हम अतीत के बारे में पैदा कर रहे हैं ताकि वैज्ञानिक ज्ञान सुरक्षित रह सके। इतिहास के आने के पहले भी लोग अतीत के बारे में बातें किया करते थे और उसे साहित्य की तरह पढ़ा भी जाता था। वास्तविकता यह है कि इतिहास का विस्तार करने पर साहित्य इतिहास को व्यक्त करता दिखता है। प्रो. रामबक्ष ने कहा कि इतिहास में जो तथ्य और घटनाएँ होती हैं, वे सब यथार्थ मानी जाती हैं। लेकिन आजकल प्रत्येक तथ्य संदेहास्पद है। इस उत्तर आधुनिक समय में कोई प्रमाण नहीं बचा। विश्वसनीयता का यह संकट इतिहास के संकट में बदल गया है। व्याख्यान के बाद रचना पाठ सत्र में एस.आर. हरनोट (पत्थर का खेल), हरि भटनागर (सिवड़ी, रोटियां और जले आलू), अवधेश प्रीत (बाबूजी की छतरी), अनुज (कोम्सोमोल कोटा), अनवार आलम (उर्दू से हिंदी में अनुवादित कहानी कड़वा तेल), देवेंद्र चौबे (1764), पुरुषोत्तम बिलिमाले (कन्नड से हिंदी में अनुवादित कहानी 'कदीजा') का पाठ किया। रचना पाठ के बाद परिसंवादीय परिचर्चा में हितेंद्र पटेल, दीपक कुमार राय, गंगा सहाय मीणा, देवशंकर नवीन आदि ने हिस्सा लिया। इनमें दीपक राय ने इतिहास को जनोन्मुखी बनाने पर बल दिया।

परिसंवाद का तीसरा दिन काव्य-सत्र पर केन्द्रित था। 'कविता और जन कविता में इतिहास' पर मुख्य व्याख्यान देते हुए प्रसिद्ध आलोचक जवरीमल पारख ने कहा कविता का इतिहास से संबंध होता है लेकिन कविता में इतिहास ढूँढना जटिल होता है। संबंध इस अर्थ में कि कविता लिखे जाने के दौरान ही अतीत का हिस्सा हो जाती है। काव्य में विशेषकर जन साहित्य की निश्चित रूप से अपने समय और समाज के यथार्थ को अभिव्यक्त करना उसकी अनिवार्यता है। इसी कड़ी में चर्चित इतिहासकार बद्रीनारायण ने अपना वक्तव्य देते हुए कहा कि अगर आपको इतिहास के शाब्दिक अर्थ से मुक्त होना है तो यह मानकर चलें कि कविता सभ्यता की समीक्षा है। कविता में समय कैलेण्डर, तिथियों या आन्दोलन के रूप में नहीं होता है वह एक कंटेंट के रूप में होता है। कार्यक्रम में जी.जे.वी. प्रसाद, कुमार नयन, गोबिंद प्रसाद और अखलाक अहमद आहन ने अपनी कविताओं का पाठ किया। कार्यक्रम का संचालन डॉ. पूनम कुमारी ने किया। समापन सत्र में डॉ. गणपत तेली ने त्रिदिवसीय परिसंवाद की संक्षिप्त रिपोर्ट प्रस्तुत की। मुख्य वक्तव्य देते हुए इतिहासकार दीपक कुमार ने कहा इतिहास एक तरह का साहित्य है और इतिहास पढ़ने के साथ-साथ इतिहास बनाने की भी बात कही। जेएनयू के रेक्टर प्रो. चिंतामणि महापात्र ने कहा कि साहित्य और इतिहास में गहरा रिश्ता होता है। समाज वैज्ञानिकों को साहित्य को एक स्रोत के रूप में उपभोग करना चाहिए। अंत में जेएनयू की जनसंपर्क अधिकारी पूनम एस. कुदेसिया ने समस्त अतिथियों एवं सहभागियों को विश्वविद्यालय की ओर से धन्यवाद ज्ञापन किया।

ज्ञानसर्जन के केंद्र के कारण भारत गाँवों का देश था

पिछले दिनों रंगश्री, सर्जनात्मक इतिहास और साहित्य न्यास द्वारा विद्यादान इंस्टीट्यूट ऑफ इंजीनियरिंग और मैनेजमेंट एवं प्रतिश्रुति के सौजन्य से कुंवर सिंह स्मृति व्याख्यान का आयोजन किया गया। नौवां कुंवर सिंह स्मृति व्याख्यान देते हुए जेएनयू में प्रोफेसर और राजनीति चिंतक डॉ. मणीन्द्रनाथ ठाकुर ने न्यास द्वारा महानगर से विमर्श को बाहर निकालकर वापस गांव तक ले जाने और कुंवर सिंह को इतिहास में पुनःस्थापित करने के प्रयास को बड़ी उपलब्धि कहा। वह सबाल्टर्न इतिहास से परे सर्जनात्मक इतिहास पर बात करते हुए कहा कि सर्जनात्मक इतिहास लिबरेशन, स्वतंत्रता, मुक्ति की मांग है। हम स्वतंत्र हो गए हैं लेकिन हमारा

विश्वविद्यालय औपनिवेशिक संरचना का उत्पाद है। उन्होंने कहा कि स्वायत्ता-स्वराज के लिए 1857 से चला संघर्ष आज तक कायम है। संघर्ष भले ही न हो उसकी जरूरत आज भी है। गांव को केंद्रित करते हुए उन्होंने कहा कि गांव अपने ज्ञान सर्जन के केंद्र के कारण भारत गांवों का देश था। आज ज्ञान सर्जन का केंद्र बाजार हो गया है। चौथा ग्रामीण इतिहासकार-लेखक सम्मेलन एवं रामायण चौबे स्मृति लोक व्याखान देते हुए जेएनयू के पूर्व छात्र और प्रसिद्ध इतिहासकार हितेंद्र पटेल ने कहा कि जिसे हम इतिहास कहते हैं वह अकादमिक इतिहास है जो इतिहासकारों या इतिहास पढ़ने वालों के लिए लिखा जाता है। इतिहास दरअसल लोगों के मन में है। इतिहास इस मन को नहीं देख पा रहा है और एक शास्त्र सम्मत इतिहास लिखने की कोशिश करता है। उन्होंने सम्पूर्ण इतिहास की बात कही जिसमें मन, इच्छाएं, आकांक्षाएं, मुक्ति तमाम तरह की चीजें इतिहास का हिस्सा है। गांव पर अलग से चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि गांव और गांव के इतिहास के बारे हमें अलग से ठहर कर सोचना चाहिए। गांव के भीतर बहुत सारे परिवर्तन हुए हैं। इस अवसर पर प्रसिद्ध कथाकार चित्रा मुद्गल ने 'आधुनिक भारत के इतिहास लेखन के कुछ साहित्यिक स्रोत' (लेखक रश्मि चौधरी एवं देवेंद्र चौबे की पुस्तक) और 'दीनानाथ की चक्की' (लेखक अशोक मिश्र की पुस्तक) का लोकार्पण किया गया। पुस्तक पर प्रकाश डालते हुए चर्चित लेखक और जेएनयू के प्रो. देवेंद चौबे ने कहा कि इतिहास जितना अधिकारिक दस्तावेजों में होता है उतना बाहर स्मृतियों, लोककथाओं और जनता की जबान पर होता है। पुस्तक विमोचन में पुस्तक के संपादक और जेएनयू के पूर्व छात्र डॉ. गणपत तेली ने कहा कि इतिहास तथ्य पर आधारित होता है लेकिन साहित्य संभावनाएं भी तलाशता है। अशोक मिश्र ने पुस्तक की संरचना पर बात करते हुए कहानी का संक्षिप्त सार रखा और कहा पाठक को कहानी पढ़ते हुए कहीं से यह न लगे कि कोई विमर्श पढ़ रहे हैं। अध्यक्षीय वक्तव्य में कुमार नयन ने कहा कि ग्रामीण इतिहास लेखन, पठन, विवेचन और निर्माण ये सभी इसके उद्देश्य हैं। इतिहास लेखन बड़ी निर्ममतापूर्वक संपन्न करने का नाम है। कार्यक्रम का संचालन करते हुए इतिहासकार रश्मि चौधरी ने कहा कि इतिहास हमेशा से समकालीन होता है तथा नए किस्म के साधन स्रोतों की तरफ इशारा करता है। धन्यवाद ज्ञापन में इतिहासकार दीपक कुमार ने ग्रामीण इतिहास लेखन पर काम करने के लिए नये सिरे से जोर दिया। कार्यक्रम में चित्रा मुद्गल, अमित आनंद, महेंद्र प्रसाद सिंह, डॉ. सविता खान, अजय कुमार यादव, उज्ज्वल आलोक, निशा रंगा, अखिलेश, मीनाक्षी, डॉ. विवेक मिश्र, डॉ. बली सिंह, प्रियंका आदि ने हिस्सा लिया।

जेएनयू एल्युमनी एसोसिएशन का वार्षिक सम्मेलन

पिछले वर्ष की तरह 2016 में भी नवम्बर माह के आखिरी रविवार को जेएनयू एल्युमनी एसोसिएशन का वार्षिक सम्मेलन 27 नवम्बर को संपन्न हुआ। सम्मेलन में प्रातःकालीन सत्र में जहाँ ***'मैं क्यों लिखता हूँ?'*** विषयक जेएनयू के पूर्व छात्रों का लेखन सम्मेलन हुआ, वहीं शाम में एसोसिएशन की चतुर्थ आमसभा के बाद ***'राजनीतिक लोकतंत्र का भविष्य'*** विषयक 'चतुर्थ जेएनयू एल्युमनी व्याख्यान' हुआ। व्याख्यान दिया जेएनयू के पूर्व छात्र और दिल्ली से सांसद उदित राज ने। इस अवसर पर जेएनयू एल्युमनी के बच्चों द्वारा एक सांस्कृतिक कार्यक्रम की प्रस्तुति भी की गयी जिसका संयोजन डॉ. प्रवीन वर्मा और डॉ. सदेशा रायपा ने किया। अंत में सांस्कृतिक कार्यक्रम में भाग लिये एल्युमनी के बच्चों को विश्वविद्यालय के कुलसचिव और पूर्व छात्र डॉ. प्रमोद कुमार ने पुरस्कृत किया। सम्मेलन में जेएनयू के कुलपति प्रो. एम. जगदीश कुमार और रेक्टर प्रो. चिंतामणि महापात्र सहित, देवेंद्र चौबे, राजेश कुमार, राकेश कुमार त्यागी, प्रणव कुमार, मीता नारायण, एम.एम. कुंजु, गणपत तेली, संजय कुमार झा, अनीस-उर-रहमान, डी.के. लोबियाल, आर.पी. सिंह, बलराम सिंह, निरंजन कुमार, आसमी रजा, नदीम काजमी, निशा सेंगर, मीनाक्षी, मुश्ताक, अजय यादव, प्रदीप कुमार आदि ने भाग लिया।

चतुर्थ जेएनयू एल्युमनी वार्षिक व्याख्यान

पिछले दिनों 27 नवम्बर, 2016 को जेएनयू एल्युमनी एसोसिएशन की तरफ से ***'राजनीतिक लोकतंत्र का भविष्य'*** विषयक 'चतुर्थ जेएनयू एल्युमनी व्याख्यान' संपन्न हुआ। व्याख्यान दिया जेएनयू के पूर्व छात्र, प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और सांसद उदित राज ने और अध्यक्षता किया जेएनयू के रेक्टर और एल्युमनी प्रो. चिंतामणि महापात्र ने। कार्यक्रम के प्रारंभ में समाज विज्ञान संस्थान के प्रो. मणीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने विचार रखे। एल्युमनी एसोसिएशन के अध्यक्ष प्रो. देवेंद्र चौबे ने अतिथियों का स्वागत किया और धन्यवाद दिया प्रसिद्ध पत्रकार और एल्युमनी एसोसिएशन के उपाध्यक्ष राजेश कुमार राजन ने।

एल्युमनी एसोसिएशन द्वारा 'मैं क्यों लिखता हूँ?' विषयक जेएनयू लेखक सम्मेलन संपन्न

पिछले दिनों जेएनयू एल्युमनी एसोसिएशन के वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर एक लेखक सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें जेएनयू के पूर्व छात्रों ने भाग लिया। सम्मेलन का उद्घाटन

किया जेएनयू के कुलपति और एल्युमनी एसोसिएशन के संरक्षक प्रो. एम. जगदीश कुमार ने और स्वागत किया एल्युमनी एसोसिएशन के अध्यक्ष और चर्चित लेखक देवेंद्र चौबे ने। सम्मेलन में शामिल लेखकों में अनुराधा मारवाह, धनंजय (अंग्रेजी), जे.सी. बत्रा, दुर्गा प्रसाद गुप्त, जितेन्द्र श्रीवास्तव, उनीता सच्चिदानंद, उर्मिलेश, पूनम कुमारी (हिंदी), अनवर पाशा, मोइद रशीद, मुश्ताक सद्दाफ, रशीद अनवर रशीद (उर्दू) आदि ने लिखे जाने के कारणों पर अपने विचार रखे। कार्यक्रम का संयोजन किया उर्दू-फारसी के लेखक अख़लाक अहमद आहन ने और धन्यवाद ज्ञापन दिया एसोसिएशन के उपाध्यक्ष राजेश कुमार राजन ने।

शिक्षकों को बड़ा दिल रखना चाहिए

पिछले दिनों सितंबर 2016 में हिंदी के चर्चित आलोचक और जेएनयू के भारतीय भाषा केंद्र के पूर्व प्रोफेसर मैनेजर पाण्डेय के

जीवन के पचहत्तर वर्ष पूरा होने के अवसर पर केंद्रित एक कार्यक्रम जेएनयू कन्वेंशन सेंटर के कमिटि हॉल में हुआ। कार्यक्रम में प्रो. दीपक कुमार, प्रो. रविभूषण, श्री मदन कश्यप, श्री कुमार नयन, प्रो. जवरीमल पारख, प्रो. अनवार आलम, प्रो. दुर्गाप्रसाद गुप्त, प्रो. मजहर मेहदी, प्रो. हितेंद्र पटेल, प्रो. देवशंकर नवीन, डॉ. अखलाक अहमद आहन, डॉ. मणीन्द्रनाथ ठाकुर, डॉ. पूनम कुमारी, डॉ. अरविंद सिंह तेजावत, डॉ. गणपत तेली, श्री देश निर्मोही, डॉ. रश्मि चौधरी, डॉ. माहेश्वर आदि लेखकों ने भाग लिया और मैनेजर पाण्डेय के आलोचना कर्म पर अपने विचार रखें। इस अवसर पर प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने कहा कि "शिक्षक को बड़ा दिल रखना चाहिए। ज्ञान को जितना अधिक बाँटेंगे, उतना बढ़ेगा। यदि कोई छात्र शिक्षक की कितनी भी आलोचना करता है तो यह देखना चाहिए कि आलोचना के लिए तथ्य किस तरह से पेश किए गये हैं। इससे छात्र के मन में शिक्षकों के प्रति सम्मान बढ़ेगा। कार्यक्रम के प्रारंभ में माहेश्वर द्वारा मैनेजर पाण्डेय पर केन्द्रित फिल्म भी दिखाई गई।

इस अवसर पर प्रो. मैनेजर पाण्डेय को समर्पित एवं किताबघर द्वारा प्रकाशित देवेंद्र चौबे की पुस्तक *'कथाकार अमृतलाल नागर : शहर की संस्कृति और इतिहास के कुछ सवाल'* भेंट की गयी तथा आधार प्रकाशन द्वारा प्रकाशित और मैनेजर पाण्डेय पर केंद्रित पुस्तक *'मैनेजर पाण्डेय संचयिता'* (सं. पंकज पराशर) और पत्रिका 'पल प्रतिपल' का लोकार्पण भी हुआ।

अमृतलाल नागर की जन्मशती वर्ष के उपलक्ष्य में जेएनयू में कार्यक्रम

पिछले दिनों हिंदी के प्रसिद्ध लेखक अमृतलाल नागर की जन्मशती वर्ष के उपलक्ष्य में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र की तरफ से एक परिचर्चा का आयोजन किया गया जिसमें चर्चित आलोचक प्रो. रामबक्ष, उर्दू लेखक और भारतीय भाषा केंद्र के अध्यक्ष प्रो. एस.एम. अनवार आलम, कन्नड़ लेखक प्रो. पुरुषोत्तम बिलिमाले, कथाकार और आलोचक प्रो. देवेंद्र चौबे सहित अमृतलाल नागर के परिवार के सदस्यों में लखनऊ से आई श्रीमती विभा नागर, डॉ. दीक्षा नागर और अमेरिका से आई मिनोसोटा विश्वविद्यालय की प्रो. ऋचा नागर आदि ने भाग लिया और अपने विचार रखे। इस अवसर पर प्रो. ऋचा नागर द्वारा संपादित किताब *'मैं और मेरा मन : शरद नागर'* (किताबघर प्रकाशन) एवं श्री राकेश रेणु तथा श्रीमती फरहत परवीन द्वारा संपादित पत्रिका *'आजकल'* (प्रकाशन विभाग, भारत सरकार) के अमृतलाल नागर पर केंद्रित अंक का लोकार्पण अतिथियों ने किया।

ईपीजी पाठशाला - हिंदी, की पाठ्यक्रम निर्माण संबंधी कार्यशाला संपन्न

पिछले दिनों ईपीजी पाठ्शाला (हिंदी) पाठ्यक्रम संबंधी एक कार्यशाला का आयोजन जेएनयू के भाषा संस्थान में किया गया जिसकी अध्यक्षता चर्चित आलोचक और पाठ्यक्रम के राष्ट्रीय समन्वयक प्रो. रामबक्ष ने किया। इस कार्यशाला में ई-लर्निंग संबंधी प्रक्रिया से सहभागियों को परिचित कराया गया। एक बातचीत में राष्ट्रीय समन्वयक प्रो. रामबक्ष ने बताया कि "पाठ्यक्रम निर्माण का पहला चरण दिसंबर के अंत तक पूरा हो जाएगा और शेष मूक (Moocs) में कन्वर्ट होकर जल्द ही मानव संसाधन विकास मंत्रलय (यू.जी.सी.) के स्वयं के प्लेटफार्म (वेब साइट) पर उपलब्ध हो जाएगा। अभी इस सामग्री को 'Inflibnet' के साइट पर देखा जा सकता है। यह सामग्री 'Youtube' पर भी उपलब्ध है।"

कार्यशाला का संयोजन पाठ्यक्रम के ई-लर्निंग विशेषज्ञ उज्ज्वल आलोक ने किया।

विश्व अनुवाद दिवस पर कार्यक्रम

पिछले दिनों विश्व अनुवाद दिवस के अवसर पर 30 सितंबर 2016 को भाषा संस्थान के समिति कक्ष में 'संस्कृति का अनुवाद' विषयक एक कार्यक्रम का आयोजन किया गया जिसमें प्रसिद्ध अनुवादक निर्मल कांति भट्टाचार्यजी ने मुख्य वक्तव्य दिया। कार्यक्रम में प्रो. देव शंकर नवीन, प्रो. अनवार आलम और डॉ. गंगा सहाय मीणा ने अपने विचार रखे।

नए प्रकाशन

आधुनिकता, भूमंडलीकरण और अस्मिता : अभिजीत पाठक। इस पुस्तक में प्रसिद्ध समाजशास्त्री अभिजीत पाठक ने आधुनिकता, भूमंडलीकरण और अस्मिता से जुड़े सवालों पर विचार करते हुए समकालीन भारत को समझने का प्रयास किया है। प्रकाशक : आकार बुक्स, दिल्ली, मूल्य : 295/- ISBN 978-93-5002-219-1

आधुनिक भारत के इतिहास लेखन के कुछ साहित्यिक स्रोत : रश्मी चौधरी एवं देवेन्द्र चौबे। इस पुस्तक में 1857 से लेकर समकालीन भारत के इतिहास लेखन में साहित्य को प्राथमिक स्रोत के रूप में विचार करने का प्रस्ताव किया गया है। प्रकाशक : प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, मूल्य : 500/- ISBN 978-81-7714-558-8

चिरकुट : हितेन्द्र पटेल। हितेन्द्र पटेल एक महत्वपूर्ण इतिहासकार होने के साथ-साथ एक कथाकार भी हैं। चिरकुट उनका चर्चित उपन्यास है जिसमें उन्होंने समकालीन भारत को समझने का प्रयास किया है। प्रकाशक : नई किताब, दिल्ली, मूल्य : 110/- ISBN 978-93-82821-137

सोफी का संसार : जास्टिन गार्डर, अनुवाद एवं संपादन : सत्यपाल गौतम। जास्टिन गार्डर का यह उपन्यास पाश्चात्य जगत की दर्शन गाथा है जिसमें लेखक ने दर्शनशास्त्र की अवधारणाओं को कथात्मक तरीके से समझाने का प्रयास किया है। प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य : 399/- ISBN 978-81-267-2933-3

मेरा जीवन मेरा संघर्ष : अब्दुल गफ्फार खान, अनुवादक : अख़लाक अहमद 'आहन'। यह पुस्तक प्रसिद्ध स्वाधीनता सेनानी अब्दुल गफ्फार खान की महत्वपूर्ण आत्मकथा है। प्रकाशक : नई किताब, दिल्ली, मूल्य : 895/- ISBN 978-93-82821-10-6

कथाकार अमृतलाल नागर : शहर की संस्कृति और इतिहास के कुछ सवाल : देवेन्द्र चौबे। इस पुस्तक में लेखक ने साहित्यिक स्रोतों के माध्यम से लखनऊ के सामाजिक इतिहास लेखन पर विचार किया है। प्रकाशक : किताब घर, दिल्ली, मूल्य : 425/- ISBN 978-81-7016-993-2

वर्त्तमान की धूल : गोविन्द प्रसाद । हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध कवि प्रो. गोविन्द प्रसाद का यह तीसरा काव्य संग्रह है। यह संग्रह अनुभव के विभिन्न आयामों से गुजरता हुआ — जिसमें कुछ विदेशी पृष्ठभूमि के अनुभव की शमिल हैं — एक भरी-पूरी दुनिया का फलक हमारे सामने रखता हैं। प्रकाशक : किताब घर, दिल्ली, मूल्य : 250/- ISBN 978-93-83233-79-3

"विश्वविद्यालय की विशेषताएँ होती हैं : मानववाद, सहिष्णुता, तर्कशीलता, विचार का साहस और सत्य की खोज। विश्वविद्यालय का काम है उच्चतर आदर्शों की ओर मनुष्य जाति की सतत यात्रा को संभव करना। राष्ट्र और जनता का हित तभी हो सकता है जब विश्वविद्यालय ठीक से अपने दायित्वों का निर्वाह करें।"

- जवाहरलाल नेहरू

परिसर वीथिका

1

2

3

4

1. स्वतंत्रता दिवस (15 अगस्त 2016) के अवसर पर जेएनयू के कुलपति प्रो. एम. जगदीश कुमार ध्वजारोहण करते हुए।
2. हिंदी दिवस के अवसर पर आयोजित कार्यक्रम में जेएनयू परिसर के अंक-7 का लोकार्पण करते हुए कुलपति प्रो. एम. जगदीश कुमार, प्रो. मैनेजर पाण्डेय, यूजीसी की संयुक्त सचिव डॉ. उर्मिला देवी, डॉ. प्रमोद कुमार, प्रो. देवेन्द्र चौबे, श्री उमाकान्त अग्रवाल, श्री सुमेर सिंह और श्री शिवम शर्मा।
3. एल्यूमनी एसोसिएशन द्वारा आयोजित जेएनयू लेखक सम्मेलन में *न्यूजलेटर* का लोकार्पण करते हुए लेखक प्रतिभागी।
4. भारतीय भाषा केन्द्र द्वारा आयोजित राष्ट्रीय परिसंवाद 'हमारे समय का साहित्य - 2, थीम : साहित्य और जनसाहित्य में इतिहास' में *आधुनिक भारत के इतिहास लेखन के कुछ साहित्यिक स्रोत* (रश्मी चौधरी और देवेन्द्र चौबे) का विमोचन करते हुए कुलपति प्रो. एम. जगदीश कुमार, प्रो. मैनेजर पाण्डेय, श्रीमती चित्रा मुद्गल, प्रो. रेखा वी. राजन, प्रो. अनवार आलम आदि।
5. चतुर्थ जेएनयू एल्यूमनी वार्षिक व्याख्यान में शामिल जेएनयू के पूर्व छात्र और दिल्ली से सांसद श्री उदित राज, जेएनयू के रेक्टर प्रो. चिन्तामणि महापात्र, डॉ. मणीन्द्रनाथ ठाकुर, एल्यूमनी एसोसिएशन के अध्यक्ष प्रो. देवेन्द्र चौबे एवं प्रसिद्ध पत्रकार तथा एसोसिएशन के उपाध्यक्ष श्री राजेश कुमार।

5

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के लिए कुलसचिव डॉ. प्रमोद कुमार द्वारा प्रकाशित।
मुद्रक : अलकनन्दा एडवरटाइजिंग प्रा. लि., ओखला इंडस्ट्रीयल एरिया, फेज–II, नई दिल्ली–110020